ज्ञानदिवाकर, मर्यादा शिष्योत्तम, प्रशांतमूर्ति
आचार्यश्री भरतसागर जी महाराज की स्वर्णजयंती वर्ष के उपलक्ष में :

सिरि कुंदकुंदाइरिय विरइयं

रयणसार

अनुवाद

आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माता जी

अर्थ सहयोगी

श्रीमती चिरोंजीदेवी धर्मपत्नी तेजकरणजी बाकलीवाल

तत्पुत्र जीतेन्द्र बाकलीवाल, गोहाटी (आसाम)

(परमपूज्या आर्यिका सल्लेखनामती माताजी के तृतीय दीक्षा दिवस के उपलक्ष में)

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

सद्गृहस्थ का आदर्श
रयणसार

किसी भी देश की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए, उस देश का संविधान (कानून) जिम्मेदार होता है। आज विश्व में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील एवं परिग्रह इन पाँच पापों को रोकने के लिए, काबू पाने के लिए, पचास हजार से भी अधिक कानून बने हुए हैं, फिर भी पाँच पापों को रोकने के लिए असमर्थ हैं वे। इससे फलित होता है कि कानून या संविधान की अनास्था से, पाप-प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। हर देश का नेता इस बात से चिन्तित है। हर समस्याओं को सुलझाने के लिए कानून तो बनते हैं, लेकिन उन कानूनों का पालन यथार्थ नहीं होता है। इसलिए ही **विश्व की व्यवस्था, अस्त-व्यस्त हो रही है।**

ऐसे समय में धार्मिक आचरण संहिताओं का, संविधान (कानूनों) का असर भी अप्रभावकारी हो रहा है मानव जीवन के लिए। क्योंकि मनुष्य के अन्दर से पाप-भीरुता निकल गई है। फिर भी लौकिक एवं पारलौकिक सुख-शान्ति को प्राप्त करने की दशा में, पुरुषार्थ करने वाले मानवों के लिए, धार्मिक आचार संहिताओं का अध्ययन-चिन्तन-मनन बहुत जरूरी है, इसी के साथ आचरण की ओर चरणों का बढ़ना भी।

हर व्यक्ति अपने देश की इकाई—नागरिक होते हुए भी उसकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। उसके बहुत से कर्त्तव्य एवं अधिकार हैं। इसलिये एक आदर्श नागरिक के राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन की मर्यादाओं की चर्चा भी धर्मग्रन्थों में मिलती है। **यदि इन धर्मग्रन्थों की आचार संहिताओं के अनुरूप आचरण बनाया जाये तो विश्व के पचास हजार कानूनों के बोझ से हम बच सकते हैं।**

जैसे एक गाड़ी के कम से कम दो पहिये होते हैं, एक पहिये की गाड़ी कभी नहीं चल सकती। ठीक उसी प्रकार धर्मरूपी गाड़ी के श्रावक एवं मुनि दो पहिये हैं, इनके बिना धर्मरूपी गाड़ी, मोक्षमार्ग पर नहीं चल सकती है। वैसे तो श्रावक एवं साधु की चर्या को दर्शाने वाले आदर्श ग्रन्थ जो "चरणानुयोग" के अन्तर्गत आते हैं। जिनमें स्वतन्त्र-स्वतन्त्र रूप से श्रावक एवं मुनिधर्म की प्ररूपणायें की गई हैं। जैसे—रत्नकरण्डश्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सागारधर्मामृत आदि अनेक ग्रन्थ, श्रावकों की चर्या के संबोधक, संवाहक हैं। वहीं मूलाचार, भगवतीआराधना, मूलाचारप्रदीप, अनगारधर्मामृत आदि कई ग्रन्थ, मुनि धर्म के आदर्श मार्ग प्रतिपादक-प्ररूपक हैं।

लेकिन प्रस्तुत ग्रन्थ रयणसार की शैली, आगम और अध्यात्म का अनूठा समन्वय है। गृहस्थ एवं साधु की चर्या का वर्णन करने वाली अनोखी कृति है। क्योंकि गृहस्थ एवं साधु एक दूसरे के पूरक हैं। एक सिक्के के दो पहलू की भाँति।

एक दिन, एक बहिनश्री ने स्वाध्याय सभा में हमसे एक प्रश्न पूछा। महाराज-श्री, आज-कल साधुओं में बहुत शिथिलता आ गई है। अतः हम कैसे समझें कि ये सच्चे साधु हैं ? हमने बहिनश्री से कहा, हमारे पास एक फार्मूला है सच्चे साधु ढूंढ़ने का, पहचानने का। बहिनश्री बहुत खुश हुई। हमने कहा, **''जिस दिन आपकी आत्मा सच्चा श्रावक बन जायेगी, उसी दिन आपको सच्चे साधु भी मिल जायेंगे।''** यह सुनकर बहिनश्री निरुत्तर हो गई।

कहने का तात्पर्य है कि आदर्श तक पहुँचने के लिए अपनी-अपनी आचार संहिताओं का गहन अध्ययन के साथ ही यथाशक्ति आचरण भी जरूरी है। इसी दृष्टिकोण से भगवन्त श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव जी द्वारा विरचित श्री रयणसार जी ग्रंथ का अनुवाद वात्सल्य रत्नाकर आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की सुशिष्या आर्यिका श्री स्याद्वादमती माता जी ने आचार्यश्री के पट्टशिष्य मर्यादाशिष्योत्तम श्री भरतसागर जी महाराज की पावन प्रेरणा से किया है जिससे आज के नवयुवक-युवतियाँ भी इसे पढ़कर समझ सकें।

आर्यिकाश्री ने ग्रन्थ के अनुवाद में पाठभेद आदि से संशोधित कर कृति को कृतार्थ किया है। इस कृति को हमें अपने जीवन में उतार कर, स्वयं को भी कृतार्थ करना है।

इस ग्रंथ के अनुवाद एवं सम्पादन-कार्य में आचार्य श्री भरतसागर जी महाराज का मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन मिला इसके लिए हम चिरऋणी हैं। इस विषय में हम और अधिक क्या कहें ? इस कार्य में जितनी अच्छाइयाँ हैं वह सब अनुवादिका जी की हैं एवं जो त्रुटियाँ हैं वे सब हमारी हैं अतः विद्वजन हमें क्षमा करेंगे। प्रस्तुत कार्य में ब्र० बहिन प्रभा जी पाटनी को भी भुलाया नहीं जा सकता। क्योंकि ग्रंथ की साज-सज्जा के अनुकूल सामग्री जुटाने का उनका अथक परिश्रम भी सराहनीय-प्रशंसनीय है। किमधिकम् विज्ञेषु

मुनि श्री अमितसागर

सम्मेदाचल
विजयादशमी
११-१०-९७

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	गाथा
मंगलाचरण	१	१
सम्यग्दृष्टि कौन ?	१	२
मिथ्यादृष्टि कौन ?	२	३
मोक्ष का मूल	२	४
सम्यग्दृष्टि कैसा होता है	३	५
सम्यग्दृष्टि को दुःख कहाँ ?	४	६
४४ दोष रहित सम्यग्दृष्टि ?	५	७
७७ गुणों सहित सम्यग्दृष्टि श्रावक	६	८
मुक्ति सुख के पात्र कौन ?	६	९
सम्यग्दर्शन के बिना दीर्घ संसार	७	१०
श्रावक व मुनि धर्म में मुख्य क्या ?	७	११
बहिरात्मा की परिणति पतंगे के समान	८	१२
पूजा-दान-धर्म करने वाले सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी हैं	८	१३
पूजा व दान का फल	९	१४
जिन मुद्रा में विचार कैसा ?	९	१५
सुपात्र दान से परम्परा मुक्ति प्राप्ति	१०	१६
उत्तम पात्र में दिया दान उत्तम फल प्रदाता	१०	१७
सप्त क्षेत्रों में दिये गये दान का फल	११	१८
सांसारिक सुख की सुपात्र दान के बिना नहीं	१२	१९
सुपात्र दान से चक्रवर्ती का वैभव	१२	२०
सकल सुखों की प्राप्ति सुपात्र दान का फल	१३	२१
आहार-दान के बाद बचे शेषान्न का महत्त्व	१४	२२
आहार दान में विवेक	१४	२३
आहार दान के लिए देय वस्तु में विवेक	१५	२४
मुनियों की वैयावृत्य कैसे करें ?	१५	२५
दाता के भाव की अपेक्षा दान के फल में भिन्नता	१६	२६
लोभी को पात्र-अपात्र का विचार नहीं	१७	२७

विषय	पृष्ठ	गाथा
कामनाकृत दान निरर्थक	१७	२८
दानी के दरिद्रता लोभी के ऐश्वर्य क्यों ?	१८	२९
सुख-दुःख कब ?	१८	३०
पात्र-अपात्र का विवेक आवश्यक	१९	३१
निर्माल्य द्रव्य के भोग का परिणाम	१९	३२
पूजा-दान आदि के द्रव्य के अपहरण का परिणाम	२०	३३
पूजा-दान के द्रव्य का अपहरण बीमारियों का घर	२०	३४
धर्म-द्रव्य के अपहरण से विकलांग	२१	३५
पूजा-दानादि धर्म कार्यों में अन्तराय करने का फल	२१	३६
वंदना और स्वाध्याय आदि धर्म कार्यों में विघ्न करने का फल	२२	३७
पंचम काल में विशुद्धि की हीनता	२२	३८
दुर्गति का पात्र कौन ?	२३	३९
हेयोपादेय से रहित जीव मिथ्यादृष्टि है	२४	४०
हेयोपादेय रहित जीव के सम्यक्त्व कहाँ ?	२४	४१
लौकिक जनों की संगति योग्य नहीं	२४	४२
सम्यक्त्व रहित जीव कौन ?	२५	४३
क्षुद्र स्वभावी व दुर्भावना युक्त जीव सम्यक्त्व हीन हैं	२६	४४
जिन धर्म विनाशक जीवों के स्वभाव	२६	४५
रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन की मुख्यता	२८	४६
सम्यक्त्व की हानि कैसे ?	२९	४७
अहो ! सबसे बड़ा कष्ट मिथ्यात्व	२९	४८
सम्यग्दृष्टि ही धर्मज्ञ है	३०	४९
मिथ्यादृष्टि की पहिचान	३१	५०
साम्य भाव का घातक	३१	५१
उपशम भाव के कार्य	३२	५२
समय का उपयोग	३३	५३
भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल	३३	५४

विषय	पृष्ठ	गाथा
सम्यग्दृष्टि जीवों की दुर्लभता	३४	५५
निर्मल, शुद्ध सम्यक्त्व	३५	५५
		(ब. प्रति से)
अवसर्पिणी काल में भी धर्म्यध्यान होता है	३६	५६
जो रुचे सो करो	३७	५७
अशुभ भाव रूप परिणाम	३७	५८-५९
शुभ भाव रूप परिणाम	३८	६०-६१
निर्णय स्वयं का	४०	६२
मोही जीव के भवतीर नहीं	४०	६३
मात्र भेष/लिंग से कल्याण नहीं	४१	६४
मिथ्यात्व के नाश बिना मोक्ष नहीं	४२	६५
बामी को पीटने से क्या लाभ ?	४३	६६
संयमी कौन ?	४४	६७
मात्र ज्ञान कर्म क्षय का हेतु नहीं हो सकता	४५	६८
मोक्षपथ का पथ्य	४५	६९
ज्ञानी और अज्ञानी	४७	७०
वैराग्य के बिना भाव	४७	७१
भाव शून्य क्रिया से अलाभ	४८	७२
अज्ञानी और विषयासक्त जीवों की दशा	४९	७३
फल को कौन प्राप्त करता है ?	५०	७४
समकित-ज्ञान-वैराग्य औषधि	५१	७५
मुनि दीक्षा के पूर्व १० का मुंडन आवश्यक	५२	७६
भक्ति बिना सब शून्य	५३	७७
गुरु भक्ति रहित शिष्य का चारित्र निष्फल है	५४	७८
गुरु भक्ति रहित शिष्य का व्रतादि निष्फल है	५५	७९
कारण के बिना कार्य नहीं	५६	८०
हेय-उपादेय ?	५७	८१
बाह्य तप माहात्म्य	५८	८२

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विषय	पृष्ठ	गाथा
मात्र बाह्य लिंग कर्म क्षय का हेतु नहीं	५९	८३
आत्म ज्ञान बिना बाह्य लिंग क्या कर सकता है	६०	८४
आत्मा की भावना बिना दुख हो है	६१	८५
सम्यक्त्व से निर्वाण प्राप्ति	६२	८६
ज्ञान विहीन तप की शोभा नहीं	६३	८७
साधु के पास परिग्रह दुख का कारण	६४	८८
ज्ञानाभ्यास कर्म क्षय का हेतु	६५	८९
अध्ययन ही ध्यान है	६६	९०
सम्यक् ज्ञान ही धर्म्यध्यान है	६७	९१
श्रुताभ्यास के बिना सम्यक् तप नहीं	६८	९३
मुनिराज तत्त्वचिंतक होते हैं	६९	९३
मुनिराज की अनवरत चर्या	७०	९४
मुनिराज कैसे होते हैं ?	७०	९५
मुक्ति-मार्ग रत योगी होता है	७१	९६
मिथ्यात्व सहित मुक्ति का हेतु नहीं	७२	९७
रागी को आत्मा का दर्शन नहीं	७३	९८
दीर्घ संसारी	७४	९९
सम्यक्त्व रहित साधु कौन ?	७५	१००
जैन धर्म के विराधक	७५	१०१-१०२
श्रमणों को दूषित करने योग्य कार्य	७६	१०३
सम्यक्त्व विहीन मुनि	७७	१०४
परनिन्दक-आत्म प्रशंसक मोक्षमार्गी नहीं	७८	१०५
पापी जीव	७९	१०६
मोक्षमार्गी साधु	८०	१०७
मुनिचर्या के विभिन्न प्रकार	८०	१०८
धर्मानुष्ठान के योग्य शरीर पोषण के योग्य है	८१	१०९-११०
युक्ताहारी साधु ही दुःखों के क्षय में समर्थ	८२	१११
वह साधु है क्या ?	८३	११२

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विषय	पृष्ठ	गाथा
आहार शुद्धि संदेश	८४	११३
पात्रों के अनेक प्रकार	८५	११४
मुनियों की पात्रता	८६	११५
अज्ञानी का तप	८७	११६
पात्र विशेष	८८	११७-११८
उभय नय विरोधी	८९	११९
भव-बीज	९०	१२०
संसार की वृद्धि	९१	१२१
परलोक कैसे सुधरेगा ?	९२	१२२
उभय भावों को जानकर अपनी शुद्ध आत्मा में रुचि करो	९३	१२३
कर्म रहित मुक्तात्मा जानते हैं	९४	१२४
बंध व मुक्ति के भाव	९४	१२५
बहिरात्मा का लक्षण	९५	१२६
इन्द्रिय विषय किंपाक फलवत्	९६	१२७
बहिरात्मपने की सामग्री	९७	१२८
बहिरात्मपने का भाव	९७	१२९
बहिरात्मपने का पुष्टीकरण	९८	१३०
बहिरात्म जीवों का विषय	९९	१३१
बहिरात्मा की विवेकहीनता	९९	१३२
अन्तरात्मा के लक्षण	१००	१३३
अनादिकालीन दुर्वासना	१०१	१३४
सम्यग्दृष्टि के भोग में अनासक्ति	१०१	१३५
परमात्मावस्था प्राप्ति का उपाय	१०२	१३६
दुख का कारण बहिरात्म भाव	१०३	१३७
अन्तरात्मा-परमात्मा के भाव मुक्ति के कारण	१०४	१३८
उभय समय ज्ञाता गति	१०५	१३९
स्व समय कौन ? केवल परमात्मा	१०६	१४०
गुणस्थानों की अपेक्षा आत्मा का वर्गीकरण	१०६	१४१
दोषों के त्याग से मुक्ति	१०७	१४२

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विषय	पृष्ठ	गाथा
रत्नत्रय से मुक्ति	१०८	१४३
जिनलिंग मुक्ति का हेतु	१०९	१४४
शुद्धोपयोग से मुक्ति	१०९	१४५
सम्यक्-दर्शन की साधना	११०	१४६
लोकपूज्य सम्यग्दर्शन	१११	१४७
काल-दोष	११२	१४८
श्रावक की त्रेपन क्रिया	११३	१४९
ज्ञानाभ्यास से मुक्ति	११४	१५०
श्रुत की भावना से उपलब्धि	११५	१५१
मिथ्यात्व से अनन्तकाल भ्रमण	११६	१५२
सम्यग्दर्शन के सद्भाव अभाव का फल	११७	१५३
उभय दृष्टि परिणाम	११८	१५४
रात्रिभोजन में कुशीलता है	११९	१५४
		(ब. प्रति से)
सम्यक्त्व रहित ज्ञानाभ्यास व अनुष्ठान संसार के हेतु	११९	१५५
ममकार के त्याग बिना मुक्ति नहीं	१२१	१५६-१५७
रत्नत्रय युक्त निर्मल आत्मा समय है	१२२	१५८
कर्मक्षय का हेतु सम्यक्त्व	१२३	१५९
सम्यग्दर्शन रूपी रत्न दीपक	१२४	१६०
जिनेन्द्र वचनों का अभ्यास मोक्ष का हेतु	१२४	१६१
धर्म्यध्यान मुक्ति का बीज	१२५	१६२
काल आदि लब्धि से आत्मा परमात्मा	१२६	१६३
भुक्ति मुक्ति का सुख	१२७	१६४
ग्रन्थ का प्रयोजन	१२८	१६५
ग्रन्थ की अवमानना से अलाभ	१२८	१६६
ग्रन्थ के सम्मान से लाभ	१२९	१६७
गाथानुक्रमणिका	१३०-१३३	

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सिरि कुंदकुंदाइरिय विरइयं

रयणसार

अह मंगलायरणं

णमिऊण वड्ढमाणं, परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण ।
वोच्छामि* रयणसारं, सायार–णयार धम्मीणं ।।१।।

अन्वयार्थ—(परमप्पाणं) परमात्मा (वड्ढमाणं) वर्धमान (जिणं) जिनको (तिसुद्धेण) तीनों शुद्धिपूर्वक (णमिऊण) नमस्कार करके (सायार–णयार) सागार-अनगार (धम्मीणं) धर्मयुक्त (रयणसारं) रयणसार/रत्नसार [ग्रन्थ] को (वोच्छामि) कहूँगा।

अर्थ— मैं (कुन्दकुन्द) परमात्मा वर्तमान शासनाधिपति वर्धमान तीर्थंकर जिनेन्द्र को मन-वचन-काय की त्रिशुद्धिपूर्वक नमस्कार करके सागार/गृहस्थ और अनगार/ मुनि धर्म का व्याख्यान करने वाले रयणसार ग्रन्थ को कहूँगा/ग्रन्थ की रचना करता हूँ।

सम्यग्दृष्टि कौन ?

पुव्वं जिणेहि भणियं, जहट्ठियं गणहरेहि वित्थरियं ।
पुव्वाइरिय-क्कमजं, तं बोल्लइ जो हु सद्दिट्ठी ।।२।।

अन्वयार्थ—(जो) जो (पुव्वं) पूर्वकाल में (जिणेहि) जिनदेव के द्वारा (भणियं) कहे गये (गणहरेहि) गणधरों के द्वारा (वित्थरियं) विस्तृत किये गये (पुव्वा इरियक्कमजं) पूर्वाचार्यों के क्रम से प्राप्त (जहट्ठियं) ज्यों का त्यों/वास्तविक सत्य (तं) उसको ही (बोल्लइ) बोलता है/कहता है (हु) निश्चय से/वस्तुतः [वह] (सद्दिट्ठी) सम्यग्दृष्टि है।

---

*यहाँ वोच्छामि पद में आचार्य का अभिप्राय है "मैं इस ग्रंथ का वक्ता मात्र हूं, कर्ता नहीं।

अर्थ—जो जीव पूर्वकाल में जिनेन्द्रदेव के द्वारा, प्रतिपादित, गणधरों के द्वारा विस्तार से बताये गये और जो पूर्वाचार्यों के क्रम से/पूर्वाचार्यों की परम्परा से प्राप्त हुआ है उसको ज्यों का त्यों/यथावस्थित, वास्तविक सत्य प्रतिपादन करता है, कहता है, वास्तव में, निश्चय से वही सम्यग्दृष्टि है।

मिथ्यादृष्टि कौन ?

मदि-सुद-णाण-वलेण दु, सच्छंदं बोॅल्लई जिणुद्दिट्ठं ।
जो सो होइ कुदिट्ठि, ण होइ जिण-मग्ग-लग्गरवो ।।३।।

अन्वयार्थ—(जो) जो जीव (जिणुद्दिट्ठं) जिनेन्द्र देव कथित तत्त्व को (मदि-सुद-णाण-बलेण दु) मति और श्रुतज्ञान के बल से (सच्छंदं) स्वेच्छानुसार/स्वच्छन्द (बोॅल्लई) बोलता है (सो) वह (कुदिट्ठि) मिथ्यादृष्टि (होइ) होता है वह (जिण-मग्ग-लग्गरवो) जिन मार्ग में संलग्न जीव का वचन (ण) नहीं (होइ) होता है।

अर्थ—जो जीव जिनेन्द्र देव द्वारा कथित वस्तु तत्त्व को मति-श्रुत-ज्ञान के बल से स्वेच्छानुसार/स्वच्छन्द रूप से बोलता है, वह व्यक्ति मिथ्यादृष्टि है। उसका वह वचन जिनमार्ग में अनुरक्त व्यक्ति का वचन नहीं है।

मोक्ष का मूल

सम्मत्त-रयणसारं, मोॅक्ख-महारुक्ख-मूलमिदि भणियं ।
तं जाणिज्जइ णिच्छय-ववहार-सरूवदो भेयं ।।४।।

अन्वयार्थ—(मोॅक्ख-महारुक्खमूलं) मोक्षरूपी महावृक्ष का मूल (सम्मत्त-रयणसारं) सम्यक्त्व रत्न ही सारभूत है (इदि) ऐसा (भणियं) कहा गया है (तं) वह (णिच्छय-ववहार-सरूवदो) निश्चय और व्यवहार रूप से [दो] (भेयं) भेद वाला (जाणिज्जइ) जानना चाहिये।

अर्थ—मोक्षरूपी महावृक्ष का मूल सम्यग्दर्शन, इस प्रकार कहा गया है। वह सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन रूप से दो भेदों वाला जाना जाता है।

सम्यग्दृष्टि कैसा होता है ?

भय-वसण-मल-विवज्जिय, संसार-सरीर-भोग-णिव्विण्णो ।
अट्ठगुणंग–समग्गो, दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ।।५।।

अन्वयार्थ—(दंसणसुद्धो) निर्दोष सम्यग्दर्शन का धारक/सम्यग्दृष्टि (हु) वस्तुतः (भय-वसण-मल-विवज्जिय) भय-व्यसन और मलों से रहित होता है (संसार-सरीर-भोग-णिव्विण्णो) संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होता (अट्ठगुणंग-समग्गो) अष्टांग गुणों से युक्त/पूर्ण (पंचगुरुभत्तो) पंचगुरु/पंच परमेष्ठी का भक्त होता है।

अर्थ—निर्दोष सम्यग्दर्शन का धारक सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय ही [सात] भय, [सात] व्यसन और [पच्चीस] मल दोषों से रहित, संसार, शरीर व भोगों से विरक्त [तथा] निःशंकितादि अष्टांग सम्यक्त्व के गुणों से युक्त और पंचपरमेष्ठी का भक्त होता है।

सात भय— १. इहलोक भय, २. परलोक भय, ३. वेदना भय, ४. मरण भय, ५. आकस्मिक भय ६. अरक्षा, ७. अगुप्ति भय।

सात व्यसन— १. जुआ खेलना, २. माँस खाना, ३. सुरापान, ४. शिकार करना, ५. वेश्यागमन ६. चोरी करना और ७. परस्त्री सेवन।

२५ मल दोष—८ शंकादि दोष, ८ मद, ६ अनायतन और ३ मूढ़ता।

८ शंकादि दोष— १. शंका, २. कांक्षा, ३. विचिकित्सा, ४. मूढ़दृष्टि, ५. अनुपगूहन, ६. अस्थितिकरण ७. अवात्सल्य ८. अप्रभावना।

८ मद—१. ज्ञान मद, २. पूजा/आज्ञा/प्रतिष्ठा मद, ३. कुल मद, ४. जातिमद, ५. बल/शक्ति मद, ६. ऋद्धि/विभूति/संयम/ऐश्वर्य मद, ७. तप मद, ८. शरीर/रूप मद।

६ अनायतन—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और तीनों के सेवक।

३ मूढ़ता— १. देवमूढ़ता, २. गुरुमूढ़ता और ३. लोकमूढ़ता।

आठ गुण— १. निःशंकित, २. निःकांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४.

अमूढ़दृष्टि, ५. उपगूहन, ६. स्थितिकरण, ७. वात्सल्य, ८. प्रभावना।

सम्यग्दृष्टि को दुख कहाँ ?

णिय-सुद्धप्पणुरत्तो, बहिरप्पा-वत्थ-वज्जिओ णाणी।
जिण-मुणि-धम्मं मण्णइ, गय-दुक्खो होइ सद्दिट्ठी।।६।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अन्वयार्थ— [जो] (णाणी) आत्मज्ञानी (णिय-सुद्धप्पणुरत्तो) अपनी शुद्ध आत्मा में अनुरक्त रहता है (बहिरप्पा-वत्थ-वज्जिओ) बहिरात्मा की अवस्था से रहित है / पराङ्मुख है (जिण-मुणि-धम्मं) जिनेन्द्र देव, दिगम्बर/परिग्रह रहित मुनि और धर्म को (मण्णइ) मानता है— ऐसा (सद्दिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (गयदुक्खो) दुखों से रहित (होइ) होता है।

अर्थ—जो विचारशील/विवेकी/ज्ञानी अपने शुद्ध आत्मा में अनुरक्त है, बहिरात्मा अवस्था से रहित है, जिनेन्द्र देव, निर्ग्रंथ गुरु व दयामयी धर्म को मानता है वह सम्यग्दृष्टि है, दुखों से रहित होता है।

४४ दोष रहित सम्यग्दृष्टि

मय-मूढ-मणायदणं, संकाइ-वसण भयमईयारं।
जेसिं चउदालेदो, ण संति ते होंति सद्दिट्ठी।।७।।

अन्वयार्थ—(जेसिं) जिनके (मय-मूढ-मणायदणं) मद, मूढ़ता और अनायतन (संकाइ-वसण भयं) शंकादि दोष, व्यसन भय (अईयारं) अतीचार (चउदालेदो) ये चौवालीस [४४] दोष (ण) नहीं (संति) होते हैं (ते) वे (सद्दिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (होंति) होते हैं।

अर्थ—जिन जीवों में आठ मद, तीन मूढ़ता, छः अनायतन, शंका आदि आठ दोष, सात व्यसन, सात भय और पाँच अतीचार ये ४४ दोष नहीं होते हैं, वे सम्यग्दृष्टि होते हैं। ८+३+६+८+७+७+५=४४।

पाँच अतीचार-१.शंका, २. कांक्षा, ३. विचिकित्सा, ४. अन्यदृष्टि प्रशंसा, ५. अन्यदृष्टि संस्तव । [शेष दोषों के नाम गाथा में देखिये]

प्रशंसा- प्रशंसा मन से होती है।

संस्तव- संस्तव वचन से होता है।

७७ गुणों सहित सम्यग्दृष्टि श्रावक...

उहयगुण-वसण-भय-मल-वेरग्गाइचार-भत्तिविग्घं वा ।
एदे सत्तत्तरिया, दंसण-सावय-गुणा भणिया ।।८।।

अन्वयार्थ—(उहयगुण) दोनों गुण (वसण-भय-मल-वेरग्गा-इचार) सातव्यसन, भय, मल दोष से रहित, वैराग्ययुक्त, अतिचार रहित (वा) और (भत्तिविग्घं) निर्विघ्न भक्ति (एदे) ये (सत्तत्तरिया) ७७/सतत्तर (दंसण-सावय-गुणा) सम्यग्दृष्टि श्रावक के गुण (भणिया) कहे गये हैं।

अर्थ—आठ मूलगुण, बारह उत्तरगुण ऐसे दोनों गुण, सात व्यसन, सात, भय पच्चीस मल-दोष से रहित, वैराग्य युक्त, अतिचार रहित और देव-शास्त्र-गुरु में निर्विघ्न भक्ति ये सतत्तर सम्यग्दृष्टि श्रावक गुण कहे गये हैं।

आठ मूलगुण–

(अ) १. मद्यत्याग, २. मधुत्याग, ३. माँसत्याग, ४. बड़, ५. पीपल, ६. पाकर, ७. ऊमर और ८. कटुम्बर (अंजीर) इन ५ फलों का त्याग अर्थात् ३ मकार व ५ उदुंबर फलों के खाने का त्याग।

(ब) पाँच अणुव्रत—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत का पालन तथा तीन मकार–मद्य–माँस–मधु का त्याग=८ मूलगुणों का पालन। **(समन्त. आ.)**

(स) मद्य–माँस–मधु का त्याग, रात्रिभोजन त्याग, ५ उदुम्बर फलों का त्याग, पंच–परमेष्ठी को नमस्कार, जीव दया और जल छानना। **८ मूलगुण (पं० आशाधरजी)**

१२ उत्तरगुण– ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत।

५ अणुव्रत– १.अहिंसाणुव्रत, २. सत्याणुव्रत, ३. अचौर्याणुव्रत, ४. ब्रह्मचर्याणुव्रत, ५. परिग्रहपरिमाण अणुव्रत।

३ गुणव्रत– दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोगपरिमाण।

४. शिक्षाव्रत– १. देशव्रत, २. सामायिक, ३. प्रोषधोषवास, ४. वैय्यावृत्ति।

[समन्तभद्रआचार्य विरचित रत्नकरंडश्रा० से]

५. अणुव्रत–अहिंसा आदि।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

३. गुणव्रत– दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत।

४. शिक्षाव्रत–सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत और अतिथिसंविभाग।

[श्री उमास्वामि आ. विरचित त.सू.अ.७ सू. २१]

१२ भावनाएँ—१. अनित्य, २. अशरण, ३. संसार, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचि, ७. आस्रव, ८. संवर, ९. निर्जरा, १०. लोक, ११. धर्म, १२.बोधिदुर्लभ।

१. शंका, २. कांक्षा, ३. विचिकित्सा, ४. अन्यदृष्टि प्रशंसा, ५. अन्यदृष्टि संस्तव।

[शेष गुणों के नाम गाथा ५ में देखिये]

इस प्रकार ८+१२+७+७+२५+१२+५+१=७७ सम्यग्दृष्टि श्रावक के गुण।

मुक्ति सुख के पात्र कौन ?

देव-गुरु-समय-भत्ता, संसार-सरीर-भोग-परिचत्ता।
रयणत्तय-संजुत्ता, ते मणुया सिवसुहं पत्ता।।९।।

अन्वयार्थ— [जो] (देव-गुरु-समय-भत्ता) देव-गुरु-शास्त्र के भक्त होते हैं (संसार-सरीर-भोग) संसार, शरीर व भोगों के (परिचत्ता) परित्यागी होते हैं (रयणत्तय-संजुत्ता) रत्नत्रय से संयुक्त होते हैं (ते) वे (मणुया) मनुष्य (सिवसुहं) शिवसुख को (पत्ता) प्राप्त करते हैं।

अर्थ—जो मनुष्य जिनेन्द्र देव-निर्ग्रन्थ गुरु-व जिनेन्द्र देव कथित जिनागम/सच्चे शास्त्रों में भक्ति करते हैं/इनके भक्त हैं, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हैं/इनके परित्यागी होते हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, रत्नत्रय से संयुक्त होते हैं, वे मनुष्य मुक्तिसुख को प्राप्त करते है।

सम्यग्दर्शन के बिना दीर्घ संसार

दाणं-पूजा-सीलं, उववासं बहुविहं पि खवणं पि ।
सम्मजुदं मोॅक्खसुहं, सम्मविणा दीह-संसारं ।।१०।।

अन्वयार्थ—(सम्मजुदं) सम्यग्दर्शन से युक्त (दाणं-पूजा-सीलं) दान, पूजा, शील (बहुविहं पि) अनेक प्रकार के (उववासं) उपवास (खवणं पि) कर्मक्षय में कारणभूत व्रत भी (मोॅक्खसुहं) मोक्षसुख के कारण हैं [और] (सम्मविणा) सम्यग्दर्शन के बिना [ये ही] (दीह-संसार) दीर्घ संसार के करणभूत हैं।

अर्थ—सम्यग्दर्शन से सहित जीव का दान-पूजा-शील, अनेक प्रकार के उपवास, कर्मक्षय में कारणभूत व्रत [संयमादि-मुनिलिंग, श्रावक के एकदेश व्रत] आदि सर्व मोक्षसुख के हेतु हैं। और सम्यग्दर्शन के बिना वे ही व्रत-तप-पूजा-दान-संयम-उपवासादि सर्व ही संसार को बढ़ाने वाले हैं।

श्रावक व मुनि—धर्म में मुख्य क्या ?

दाणं-पूया-मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणाज्झयणं मुक्खं, जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ।।११।।

अन्वयार्थ—(सावयधम्मे) श्रावक धर्म में (दाणं-पूया) दान और पूजा (मुक्खं) मुख्य है (तेण) उसके (विणा) बिना (सावय) श्रावक (ण) नहीं होता है। (झाणाज्झयणं) ध्यान और अध्ययन (जइधम्मे) यति धर्म में (मुक्खं) मुख्य हैं (तं विणा) उस ध्यान और अध्ययन के बिना (सो वि) वह मुनि धर्म भी (तहा) वैसा ही व्यर्थ है।

अर्थ—श्रावक धर्म में चार प्रकार का दान—आहार, औषध, शास्त्र

और अभयदान व देव-शास्त्र-गुरु की पूजा श्रावक का मुख्य कर्तव्य है। दान और पूजा के बिना श्रावक का धर्म व्यर्थ है/वह श्रावक, श्रावक नही कहलाता। [तथा] मुनि धर्म मे ध्यान और अध्ययन मुनि के मुख्य कर्तव्य हैं। ध्यान और अध्ययन के बिना मुनिधर्म भी वैसा ही व्यर्थ है, जैसे श्रावक धर्म।

बहिरात्मा की परिणति पतंगे के समान

दाणु ण धम्मु ण चागु ण, भोगु ण बहिरप्प जो पयंगो सो।
लोह-कसायग्गि-मुहे पडियो मरियो ण संदेहो ।।१२।।

अन्वयार्थ—(जो) जो श्रावक (दाणु) दान (ण) नहीं देता (धम्मु ण) धर्म-पालन नहीं करता (चागु ण) त्याग नहीं करता (भोगु ण) न्यायपूर्वक भोग नहीं करता (सो) वह (बहिरप्प) बहिरात्मा (पयंगो) पतंगा है (लोह-कसायग्गि-मुहे) लोभकषाय रूपी अग्नि के मुख में (पडियो) पड़ा हुआ (मरियो) मर जाता है (संदेहो) इसमें संदेह (ण) नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—जो श्रावक सुपात्र में दान नहीं देता है। अष्टमूलगुण, व्रत, संयम, पूजा आदि अपने योग्य धर्म का पालन नहीं करता है। न्यायनीतिपूर्वक भोग नहीं भोगता है; वह बहिरात्मा है/मिथ्यादृष्टि है। [जैनधर्म धारण करके भी जैनधर्म से बाह्य है] वह ऐसा पतंगा है जो लोभकषायरूपी अग्नि के मुख में पड़ा हुआ मर जाता है। अर्थात् जिस प्रकार पतंगा अग्नि के लोभ मे फँसकर अपना जीवन खो देता है उसी प्रकार बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव लोभकषायरूपी अग्नि में पड़कर मर जाता है, इसमें संदेह नही है।

पूजा-दान-धर्म को करने वाले सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी हैं

जिण-पूजा मुणि-दाणं, करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावय-धम्मी सो होइ मोक्ख-मग्ग-रदो ।।१३।।

अन्वयार्थ—(जो) जो (सत्तिरूवेण) शक्ति के अनुसार (जिण-पूजा करेइ) जिनदेव की पूजा करता है (मुणि-दाणं देइ)

मुनियों को दान देता है (सो) वह (सम्माइट्ठी) सम्यग्दृष्टि (धम्मी) धर्मात्मा (सावय) श्रावक (मोक्ख-मग्ग-रदो) मोक्षमार्ग में रत है।

अर्थ—जो श्रावक प्रतिदिन अपनी शक्ति के अनुसार जिनेन्द्रदेव की पूजा करता है, मुनियों को दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा श्रावक मोक्षमार्ग में रत/मोक्षमार्गी है।

पूजा व दान का फल

पूयफलेण तिलोक्के, सुरपुज्जो हवइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए, सारसुहं भुंजए णियदं ।।१४।।

अन्वयार्थ—(सुद्धमणो) शुद्ध मन वाला श्रावक (णियदं) निश्चय से (पूयफलेण) पूजा के फल से (तिलोक्के) तीनों लोकों में (सुरपुज्जो) देवों से पूज्य (हवइ) होता है (दाणफलेण) दान के फल से (तिलोए) तीन लोक में (सारसुहं) सारभूत सुखों को (भुंजए) भोगता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—शुद्ध मन वाला श्रावक निश्चय से/नियम से पूजा के फल से तीनों लोकों में देवों से पूज्य होता है और दान के फल से तीनों लोकों में सारभूत सुखों को भोगता है।

जिनमुद्रा में विचार कैसा ?

दाणं भोयण-मेत्तं, दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्त-विसेसं, सद्दंसणे किं वियारेण ।।१५।।

अन्वयार्थ—(सायारो) श्रावक (भोयण-मेत्तं) भोजनमात्र (दाणं) दान (दिण्णइ) देता है—तो वह (धण्णो) धन्य (हवेइ) हो जाता है (सद्दंसणे) जिनलिंग को देखकर (पत्तापत्त–विसेसं) पात्र-अपात्र विशेष के (वियारेण) विचार/विकल्प से (किं) क्या लाभ है ?

अर्थ—श्रावक भोजनमात्र दान देता है तो वह धन्य हो जाता है, जिनलिंग को देखकर पात्र–अपात्र विशेष का विकल्प या विचार करने से

क्या प्रयोजन है ? अर्थात् श्रावक का कर्तव्य है, जिनमुद्रा मात्र देखकर आहार दान देवे। जिनमुद्रा में पात्र-अपात्र का विचार करने में कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि श्रावक भोजन मात्र दान देने से धन्य हो जाता है।

सुपात्र दान से परम्परा मुक्ति-प्राप्ति

दिण्णइ सुपत्त-दाणं, विसेसदो होइ भोग-सग्गमही।
णिव्वाण-सुहं कमसो, णिद्दिट्ठं जिणवरिं-देहिं ।।१६।।

अन्वयार्थ—(जिणवरिं-देहिं) जिनेन्द्र देव ने (णिद्दिट्ठं) कहा है कि (सुपत्त-दाणं दिण्णइ) सुपात्र में दान को दिया जाता है— तो (विसेसदो) विशेष रूप से (भोग-सग्गमही) भोगभूमि व स्वर्ग (होदि) प्राप्त होता है और (कमसो) क्रमशः (णिव्वाण-सुहं) निर्वाण-सुख प्राप्त होता है।

अर्थ—जिनेन्द्र देव ने कहा है कि [यदि] सुपात्र में दान दिया जाता है तो विशेष रूप से भोगभूमि व स्वर्ग को प्राप्त करता है तथा क्रमशः मुक्ति-सुख/मोक्ष के सुखों की प्राप्ति करता है।

उत्तम-पात्र में दिया दान उत्तम फल प्रदाता

खेत्त-विसेसे काले, वविय सुवीयं फलं जहा विउलं।
होइ तहा तं जाणह, पत्त-विसेसेसु दाणफलं ।।१७।।

अन्वयार्थ—(जहा) जिस प्रकार (खेत्त-विसेसे) विशेष-उत्तम क्षेत्र में (काले-विसेसे) विशेष-योग्य काल में (वविय) बोया गया (सुवीयं) उत्तम बीज (विउलं) विपुल (फलं) फलवाला (होइ) होता है। (तहा) उसी प्रकार (पत्त-विसेसेसु) विशेष—उत्तम पात्रों में दिये (तं) उस (दाणफलं) दान के फल को (जाणह) जानो।

अर्थ—जिस प्रकार उत्तम क्षेत्र में, उपयुक्त/योग्य काल में बोये हुए उत्तम बीज का विपुल फल मिलता है, उसी प्रकार उत्तम पात्रों में दिये गये उस दान के फल को जानो अर्थात् उत्तम क्षेत्र, योग्य काल में बोये गये

अच्छे बीज की तरह, उत्तम द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से उत्तम पात्रों में दिया हुआ दान, विपुल–फल का प्रदाता होता है, ऐसा जानो।

सप्तक्षेत्रों में दिये गये दान का फल

इह णिय-सुवित्त-वीयं, जो ववइ जिणुत्त-सत्त-खेत्तेसु।
सो तिहुवण-रज्ज-फलं, भुंजदि कल्लाण-पंचफलं।।१८।।

अन्वयार्थ—(जो) जो पुरुष (जिणुत्त) जिनेन्द्र देव द्वारा कहे गये (सत्त–खेत्तेसु) सप्त क्षेत्रों में (णिय–सुवित्त–वीयं) अपने नीति पूर्वक/न्यायोपार्जित श्रेष्ठ धनरूपी बीज को (ववइ) बोता है (सो) वह (इह) इस लोक में (तिहुवण–रज्ज–फलं) तीनों भुवनों राज्यरूपी फल को और (कल्लाण–पंचफलं) पंच कल्याणक रूप फल को (भुंजदि) भोगता है।

अर्थ—जो भव्यात्मा/निकट भव्य पुरुष अपने न्याय से उपार्जित श्रेष्ठ धनरूपी बीज को सप्तक्षेत्रों रूपी भूमियों में बोता है, वह इस लोक में त्रिभुवन के राज्यरूप फल को और गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान-मोक्ष रूप पंचकल्याणक को भोगता है अर्थात् अपने न्यायोर्जित धन को सप्त क्षेत्रों में दान देने वाला जीव सांसारिक सर्वश्रेष्ठ सुखों को भोगकर अन्त में तीर्थंकर पद से विभूषित होकर मुक्तिपद को प्राप्त करता है। वे सात स्थान कौन से हैं—

दान के सात स्थान

जिनबिम्बं जिनागारं जिनयात्रा महोत्सवं।
जिनतीर्थं जिनागमं जिनायतनानि सप्तधा॥

१. जिनबिंब, २. जिनमंदिर, ३. जिनयात्रा, ४. पंच–कल्याणक महोत्सव, ५. जिन तीर्थोद्धार, ६. जिनागम प्रकाशन आदि, ७. जिन आयतन ये सात दान के योग्य क्षेत्र हैं।

आयतन—सम्यग्दर्शनादि गुणो के आधार/आश्रय/निमित्त को आयतन कहते हैं।

दान के सात क्षेत्रों के नाम अन्य ग्रंथ से—

जिण-भवन-बिम्ब, पोत्थय संघ सरुवाई सत्त खेत्तेसु।
जं बइयं धणबीयं, तमहं अणुमोयए सकमं ।।

अर्थात् जिनभवन, जिनबिम्ब, जिनशास्त्र और मुनि आर्यिका श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ इन सात क्षेत्रों में जो धनरूपी बीज बोया जाता है। मैं उस अच्छे कर्म की अनुमोदना करता हूँ।

सांसारिक सुख भी सुपात्र दान के बिना नहीं

मादु-पिदु-पुत्त-मित्तं, कलत्त-धण-धण्ण-वत्थु-वाहणं-विहवं।
संसार-सार-सोंक्खं, सव्वं जाणह सुपत्त-दाणफलं ।।१९।।

अन्वयार्थ—(मादु-पिदु-पुत्त-मित्तं) माता-पिता-पुत्र-मित्र (कलत्तं) स्त्री (धण) गाय-भैंस आदि पशु (धण्ण) धान्य/अनाज (वत्थु) मकान (वाहण) वाहन (विहवं) संपत्ति, आभूषण आदि वैभव (संसार-सार-सोंक्खं) संसार के उत्तमोत्तम सुख ये (सव्वं) सब (सुपत्त-दाणफलं) सुपात्र में दिये दान का फल (जाणह) जानो।

अर्थ—संसार के उत्तमोत्तम सुख, माता-पिता-पुत्र-मित्र-स्त्री-धन (चौपाये पशु आदि) धान्य (गेहूँ, चावल आदि) मकान, वाहन तथा संसार के समस्त वैभव-संपत्ति, आभूषण आदि ये सब सुपात्र में दिये गये दान का फल जानो।

सुपात्रदान से चक्रवर्ती का वैभव

सत्तंग-रज्ज-णवणिहि-भंडार संडंगबल-चउद्दस रयणं।
छण्णवदि सहस्सित्थी, विहवं जाणह सुपत्त-दाणफलं ।।२०।।

अन्वयार्थ—(सत्तंग-रज्ज) सप्तांग राज्य (णवणिहि) नवनिधि (भंडार) कोष (सडंगबल) छह प्रकार की सेना (चउद्दसरयणं) चौदह रत्न (छण्णवदि सहस्सित्थी) छियानवें हजार स्त्रियाँ [और] (विहवं) वैभव यह सब (सुपत्त-दाणफलं) सुपात्रदान का फल (जाणह) जानो।

अर्थ—सप्तांग राज्य, नवनिधि, कोष; छह प्रकार की सेना, चौदह रत्न, छियानवे हजार स्त्रियाँ और वैभव-यह सब सुपात्रदान का फल जानो।

विशेष—सप्ताङ्गराज्य- १.राजा, २. मन्त्री, ३. मित्र, ४. कोष, ५. देश, ६. किला, और ७. सेना।

नवनिधि—

पद्मः कालो महाकालः सर्वरत्नश्च पांडुकः।
नैसर्पो माणवः शंखः पिंगलो निधयो नव॥१०॥सम.अ.

१. पद्म, २. काल, ३. महाकाल, ४. सर्वरत्न, ५. पांडुक, ६. नैसर्प, ७. माणव, ८. शंख, ९. पिंगल ये नव निधियाँ हैं।

चौदह रत्न—

सेनापति स्थपति-हर्म्यपति-द्विपाश्व,
स्त्री-चक्र-चर्म-मणि-काकिणिका-पुरोधाः।
छत्रासि-दंडपतयः प्रणमन्ति यस्य,
तस्मैंनमस्त्रिभुवन प्रभवे जिनाय॥९॥सम.अ.

मार्गदर्शक :- चक्र, छत्र, असि, मणि, चर्म और काकिणी—ये सात अजीव रत्न हैं तथा सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, शिलावट और पुरोहित ये सात सजीव रत्न हैं।

षडंगबल—हाथी, घोड़ा, रथ, पदाति, गजसवार, अश्वसवार।

सकल सुखों की प्राप्ति सुपात्र—दान का फल

सुकुल-सुरूव-सुलक्खण-सुमइ-सुसिक्खा सुसील-सुगुण-सुचरित्तं।
सयलं सुहाणु-भवणं विहवं जाणह सुपत्त-दाणफलं॥२१॥

अन्वयार्थ—(सुकुल) उत्तम कुल (सुरूव) उत्तम रूप (सुसिक्खा) उत्तम शिक्षा (सुसील) उत्तम स्वभाव (सुगुण) उत्तम गुण (सुचरित्तं) उत्तम चारित्र (सयलं) सम्पूर्ण/सकल (सुहाणु-भवणं) सुखों का अनुभव और (विहवं) वैभव—यह सब (सुपत्त-दाण-फलं) सुपात्रदान का फल (जाणह) जानो।

अर्थ—उत्तम कुल, उत्तम रूप, उत्तम लक्षण, उत्तम बुद्धि, उत्तम शिक्षा,

उत्तम स्वभाव, उत्तम गुण, उत्तम चारित्र, समस्त सुखों का अनुभव और वैभव यह सब सुपात्र दान का फल जानो।

आहार-दान के बाद बचे शेषान्न का महत्त्व

जो मुणि-भुत्त-वसेसं, भुंजइ सो भुंजए जिणुदिट्ठं।
संसार-सार-सोंक्ख, कमसो णिव्वाण-वर सोंक्खं।।२२।।

अन्वयार्थ—(जो) जो भव्यात्मा (मुणि-भुत्त-वसेसं) मुनि के आहार के पश्चात् अवशिष्ट अन्न को [पवित्र मानकर] (भुञ्इ) खाता है (सो) वह (संसार-सार-सोंक्खं) संसार के सारभूत सुखों को और (कमसो) क्रमशः (णिव्वाण-वर सोंक्खं) मोक्ष के उत्तम सुख को (भुंजए) भोगता है—ऐसा (जिणुदिट्ठं) जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अर्थ—जो भव्यात्मा मुनियों के आहार दान के पश्चात् अवशिष्ट अन्न को [पवित्र मानकर] खाता है, वह संसार के सारभूत सुखों को और क्रमशः मोक्ष के उत्तम सुखों को भोगता है। ऐसा जिनेन्द्र देव का वचन है।

आहार दान में विवेक

सीदुण्ह-वाउ-पिउलं, सिलेसिम्मं तह परिसमं वाहिं।
काय-किलेसुववासं, जाणिज्जा दिण्णए दाणं।।२३।।

अन्वयार्थ—(सीदुण्ह) शीत व उष्णकाल (वाउ-पिउलं-सिलेसिम्मं) वात-पित्त-कफ (परिसमं) परिश्रम (तह) तथा (वाहिं) व्याधि (काय-किलेसुववासं) काय-क्लेश, उपवास (जाणिज्जा) जानकर (दाणं) दान (दिण्णए) दिया जाता है।

अर्थ—शीत या उष्ण (काल-ऋतु) मुनि की प्रकृति-वात, पित्त या कफ [प्रधान] है गमनागमन या ध्यान-आसनों में होने वाले—परिश्रम, रोग, कायक्लेश तप और उपवास आदि [आदि का विवेक रखते हुए] जानकर दान दिया जाता है।

विशेष—मुनिराज या अन्य भी मध्यम-जघन्य पात्रों की प्रकृति में वात-पित्त-कफ में से किसकी प्रधानता है, अभी कौन सा काल/ऋतु चल रही है—शीत या उष्ण, मुनिराज ने कायोत्सर्ग या अन्य आसनों से वैय्यावृत्ति में या गमनागमन क्रिया में कितना श्रम किया है, पात्र के ज्वर, संग्रहणी आदि कोई व्याधि की पीड़ा तो नहीं है, कायक्लेश व उपवास की अधिकता से उनके कंठ में शुष्कता तो नहीं है, इत्यादि समस्त बातों का विवेक रखते हुए विवेकपूर्वक पात्र की प्रकृति और ऋतु के अनुकूल संयमवर्धक आहार देना चाहिये। (**"दान में विवेक महान् है"**)

आहारदान के लिए देय वस्तु में विवेक

हिय-मिय-मण्णं पाणं, णिर-वज्जोसहिं णिराउलं ठाणं।
सयणासण-मुवयरणं, जाणिज्जा देइ मोॅक्ख-मग्ग-रदो।।२४।।

अन्वयार्थ—(मोॅक्ख-मग्ग-रदो) मोक्ष-मार्ग में रत व्यक्ति (हिय-मियं) हितकर-मित (अण्णं) अन्न को (पाणं) पेय पदार्थों को (णिर-वज्जोसहिं) निर्दोष औषधि को (णिराउलं) निराकुल (ठाणं) स्थान को (सयणासणं–उवयरणं) शयन और आसन/बैठने के उपकरण/ (जाणिज्जा) आवश्यकता जानकर (देइ) देता है।

अर्थ—मोक्षमार्ग में अनुरक्त जीव सुपात्रों में हितकारी और मित भोजन-पानी/पेय पदार्थों निर्दोष औषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण (चटाई, पाटा आदि) और आसनोपकरण— [आसन पाटा आदि] आदि उनकी आवश्यकता को जानकर देता है।

मुनियों की वैयावृत्य कैसे करें ?

अणयाराणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेह जाणिज्जा।
गब्भब्भमेव मादा-पिदुच्च णिच्चं तहा णिरालसया।।२५।।

अन्वयार्थ—(जहेह) जैसे इस लोक में (मादा-पिदुच्च) माता और पिता (गब्भब्भमेव) गर्भ स्थित शिशु का/गर्भ से उत्पन्न शिशु का सावधानी से पालन करते हैं (तहा) उसी प्रकार (णिच्चं)

सदा (णिरालसया) आलस्य रहित होकर (अणयाराणं) मुनियों की (जाणिज्जा) प्रकृति आदि जानकर (वेज्जावच्चं) वैय्यावृत्य (कुज्जा) करनी चाहिये।

अर्थ—जैसे इस लोक में माता-पिता अपने गर्भ में होने वाले बालक का सावधानी से पालन करते है, उसी प्रकार सदा निरालसी होकर मुनियों की प्रकृति आदि जानकर वैय्यावृत्य करनी चाहिये। अर्थात् जैसे माता-पिता अपने गर्भ से उत्पन्न बालक का भरण-पोषण, लालन-पालन और सेवा-सुश्रूषा एकाग्रता और प्रेमभाव से करते हैं वैसे ही सुपात्र की सेवा, वैय्यावृत्य, आहार-पान व्यवस्था, निवासस्थान आदि के द्वारा पात्र की वात-पित्त-कफ-प्रकृति और द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के उपसर्गों को विचार कर करें।

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दाता के भाव की अपेक्षा दान के फल में भिन्नता

सप्पुरिसाणं दाणं, कप्प-तरूणं फलाण सोहा वा[1]।।
लोहीणं दाणं जइ[2], विमाण सोहा सवं जाणे।।२६।।

अन्वयार्थ—(सप्पुरिसाणं) सत्पुरुषों/सम्यग्दृष्टि का (दाणं) दान (कल्पतरूणं) कल्पवृक्ष के (फलाण) फलों की (सोहा) शोभा (वा) समान होता है (लोहीणं) लोभी पुरुषों का (जइ) जो (दाणं) दान है- वह (विमाण सवं) अर्थी के शव के समान (सोहा) शोभा है (जाणे) ऐसा जानो।

अर्थ—सज्जन पुरुषों/सम्यग्दृष्टि जीवों का दान [इच्छित फल को देने वाला होने से] कल्पवृक्ष के फल की शोभा को प्राप्त होता है और लोभी पुरुष का दान [भीतर में पश्चाताप की अग्नि को दहकाने से] अर्थी के शव के समान शोभा को प्राप्त होता है अर्थात् निरर्थक होता है ऐसा जानो।

---

१. वा—अथवा, अवधारणा, निश्चय, सादृश्य, समानता, उपमा, पादपूर्ति।
२. जदि—यदि, जो, अगर।

लोभी को पात्र—अपात्र का विचार नहीं

जस-कित्ति-पुण्ण-लाहे, देइ सुबहुगं-पि जत्थ तत्थेव ।
सम्माइ सुगुण भायण, पत्त-विसेसं ण जाणंति ।। २७ ।।

अन्वयार्थ— [लोभी पुरुष] (जस) यश (कित्ति) कीर्ति [और] (पुण्णलाहे) पुण्य लाभ/प्राप्ति के लिए (जत्थ तत्थेव) यत्र-तत्र [पात्र की अपेक्षा न कर] कुपात्र-अपात्र में (सुबहुगं-पि) बहुत भी (देइ) दान देता है— वह (सम्माइ–सुगुण–भायण) सम्यक्त्व आदि उत्तम गुणों के भाजन/आधार/स्वामी (पत्त-विसेसं) सुपात्र/पात्र विशेष (ण) नहीं (जाणंति) जानते हैं ।

अर्थ—लोभी पुरुष यश, कीर्ति, पुण्य प्राप्ति के लिए जहाँ-तहाँ, जिस-तिस-अपात्र, कुपात्र में बहुत सारा दान भी दे देते हैं वे सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र/रत्नत्रय आदि उत्तम गुणों के स्वामी सुपात्रों को तो जानते ही नही हैं । तात्पर्य यह है लोभी पुरुष को ख्याति-पूजा-लाभ की ऐसी लिप्सा रहती है कि वह पात्र की पहचान ही नहीं करता, सच भी है कि उत्तम पात्रों का दाता भी निर्लोभी ही होता है । लोभी को उत्तम पात्रों का संयोग मिल भी कैसे सकता है ।

कामनाकृत दान निरर्थक

जंतं-मंतं-तंतं परिचरियं, पक्खवाद पिय-वयणं ।
पडुच्च पंचम-याले भरहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स ।। २८ ।।

अन्वयार्थ—(भरहे) भरतक्षेत्र में (पंचम-याले) पंचमकाल में (जंतं-मंतं-तंतं) यंत्र-मंत्र-तंत्र (परिचारियं) परिचर्या/सेवा (पक्खवाद) पक्षपात (पिय-वयणं) प्रियवचन (पडुच्च) प्रतीति/विश्वास के लिए—दिया हुआ (किं पि) कोई भी (दाणं) दान (मोक्खस्स ण) मोक्ष का कारण नहीं है ।

अर्थ—इस भरतक्षेत्र में पंचमकाल में यंत्र-मंत्र-तंत्र की प्राप्ति के लिए सेवा/परिचर्या के लिए, पक्षपात से, प्रिय वचन/वाक्पटुता से, प्रतीति/विश्वास/मान, प्रतिष्ठा के लिए दिया हुआ किंचित् भी दान मोक्ष का कारण नहीं है।

दानी के दरिद्रता लोभी के ऐश्वर्य क्यों ?

दाणीणं दारिद्दं/ दालिद्दं लोहीणं किं हवेइ मह-इसरियं ।
उहयाणं पुव्वज्जिय कम्मफलं जाव होई थिरं ।। २९ ।।

अन्वयार्थ—(दाणीणं) दानी जीवों के (दारिद्दं) दरिद्रता (लोहीणं) लोभी जीवों के (मह-इसरियं) महा-ऐश्वर्य (किं) क्यों (हवइ) होता है (उहयाणं) दोनों के (पुव्वज्जिय-कम्मफलं) पूर्वोपार्जित कर्मफल (जाव) जब तक (थिरं) स्थिर [उदय में] (होइ) रहता है ।

अर्थ—लोभी जीवों के महा-ऐश्वर्य और दानी जीवों के दरिद्रता क्यों होती है/देखी जाती है; जब तक दोनों का पूर्वोपार्जित कर्मफल स्थिर [उदय में] रहता है अर्थात् लोभी जीवों के महा ऐश्वर्य और दानी के घर महा दरिद्रता तब तक ही देखी जा सकती है जब तक दोनों का पूर्वोपार्जित कर्म उदय में रहता है।

सुख-दुःख कब ?

धण-धण्णाइ-समिद्धे, सुहं जहा होइ सव्वजीवाणं ।
मुणि-दाणाइ-समिद्धे, सुहं तहा तं विणा दुक्खं ।। ३० ।।

अन्वयार्थ—(जहा) जिस प्रकार (धण-धण्णाइ-समिद्धे) धन-धान्य आदि की समृद्धि से (सव्वजीवाणं) सब जीवों को (सुहं) सुख (होइ) होता है (तहा) उसी प्रकार (मुणि-दाणाइ-समिद्धे) मुनि-दान आदि की समृद्धि से (सव्वजीवाणं) सब जीवों को (सुहं) सुख होता है (तं) मुनि दान (विणा) बिना (दुक्खं) दुःख होता है ।

अर्थ—जिस प्रकार धन-धान्य आदि की समृद्धि से सब जीवों को सुख होता है उसी प्रकार वीतरागी, निर्ग्रंथ मुनियों को दान [आहार-औषध-शास्त्र आदि] देने से सब जीवों को उत्कृष्ट सुख होता; और मुनि दान के बिना दुख होता है।

तात्पर्य—सुपात्र में दान देने से सुख और नहीं देने से दुख प्राप्त होता है।

पात्र-अपात्र का विवेक आवश्यक

पत्त विणा दाणं च सुपुत्त विणा बहुधणं महाखेत्तं।
चित्त विणा वय-गुण-चारित्तं णिक्कारणं जाणे ।।३१।।

अन्वयार्थ— [जिस प्रकार] (सुपुत्त विणा) सुपुत्र के बिना (बहुधणं) बहुत सा धन (महाखेत्तं) महाक्षेत्र– मकान/जमीन/जायदाद (चित्त विणा) भावों [की पवित्रता] बिना (वय-गुण-चारित्तं) व्रत गुण-चारित्र (णिक्कारणं) निष्कारण/निष्प्रयोजन है [उसी प्रकार] (पत्त विणा) सुपात्र के बिना (दाणं) दान (णिक्कारणं) निष्प्रयोजन (जाणे) जानो।

अर्थ—जिस प्रकार सुशील पुत्र/सुपुत्र के बिना बहुत धन [महाक्षेत्र] जमीन-जायदाद और भावों की पवित्रता के बिना व्रत-गुण-शील/चारित्र निष्प्रयोजन हैं उसी प्रकार सुपात्र के बिना दिया गया दान निष्प्रयोजन जानो। अर्थात् सुपात्र के बिना दिया गया दान निष्फल है।

निर्माल्य द्रव्य के भोग का दुष्परिणाम

जिण्णुद्धारं-पत्तिट्ठा-जिणपूया-तित्थ-वंदण वसेस-धणं।
जो भुंजइ सो भुंजइ, जिणदिट्ठं णरय-गइ दुक्खं ।।३२।।

अन्वयार्थ—जो (जिण्णुद्धारं) जीर्णोद्धार (पत्तिट्ठा) प्रतिष्ठा (जिण-पूया) जिनपूजा (तित्थ-वंदण) तीर्थयात्रा के (वसेस-धण) अवशिष्ट धन को (भुंजइ) भोगता है (सो) वह (णरय-गइ)

नरकगति के (दुक्खं) दुःखों को (भुंजइ) भोगता है (जिणदिट्ठं) जिनेन्द्र ने कहा है।

अर्थ—जो जीव जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा, तीर्थवन्दना के अवशेष/निर्माल्य द्रव्य को भोगता है वह नरक गति के दुखों को भोगता है। अर्थात् जो जीव लोभ या मोहवश पूजा-दान आदि शुभकार्यों और जिनायतनों की रक्षार्थ प्राप्त धन या दान को ग्रहण कर स्वार्थ सिद्ध करता है वह महापापी नरक में जाता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी

पूजा-दान आदि के द्रव्य के अपहरण का परिणाम

पुत्त-कलत्त-विदूरो, दारिद्दो पंगु मूक बहि-रंधो ।
चांडालाइ-कुजादो, पूजा-दाणाइ दव्व-हरो ।।३३।।

अन्वयार्थ—(पूजा-दाणाइ) पूजा दान आदि के (दव्व-हरो) द्रव्य को अपहरण करने वाला (पुत्त-कलत्त-विदूरो) पुत्र-स्त्री रहित (दारिद्दो) दारिद्र (पंगु-मूक-बहि-रंधो) लँगड़ा, गूँगा, बहरा, अंधा और (चाण्डालाइ) चाण्डाल आदि (कुजादो) कुजाति में उत्पन्न होता है।

अर्थ—जो लोभी जीव दान पूजा आदि के द्रव्य का अपहरण करने वाला है वह पुत्र-स्त्री से रहित दरिद्री, लँगड़ा, गूँगा, बहरा, अंधा और चाण्डाल आदि कुजातियों में उत्पन्न होता है।

पूजा-दान के द्रव्य का अपहरण बीमारियों का घर

इच्छिद-फलं ण लब्भइ, जइ लब्भइ सो ण भुंजदे णियदं ।
वाहीण-मायरो सो, पूया-दाणाइ दव्व-हरो ।।३४।।

अन्वयार्थ—(पूया-दाणाइ-दव्व–हरो) पूजा-दान आदि धर्म द्रव्य का अपहरण करने वाला (इच्छिद) इच्छित (फलं) फल को (ण) नहीं (लब्भइ) प्राप्त करता है (जइ) यदि (लब्भइ) इच्छित फल को भी प्राप्त करे–तो (सो) वह (णियदं) निश्चित रूप से (भुंजदे) भोगता (ण) नहीं है (सो) वह (वाहीण-मायरो) व्याधियों/बीमारियों का घर बन जाता है।

अर्थ—पूजा-दान आदि के धर्म-द्रव्य का अपहरण करने वाला इच्छित/इष्ट फल को प्राप्त नहीं करता, यदि इच्छित/इष्ट फल को प्राप्त कर भी लेता है, तो यह निश्चित है कि वह उसे भोग नहीं पाता। वह व्याधियों का घर बन जाता है। अर्थात् ऐसी स्थिति बन जाती है कि वह अच्छे-अच्छे पदार्थों को भक्षण करना/खाना चाहता है, पर रोग से ऐसा पीड़ित हो जाता है कि ''रूखी रोटी और मूँग की दाल का पानी ही खा पाता है''। वह भी डॉक्टर/वैद्य द्वारा बताई गई मात्रा में।

धर्मद्रव्य के अपहरण से विकलांग

गय-हत्थ-पाद-णासिय-कण्ण-उरंगुल विहीण-दिट्ठीए।
जो तिव्व-दुक्ख-मूलो, पूया-दाणाइ दव्व-हरो ।।३५।।

अन्वयार्थ—(जो) जो जीव (पूजा-दाणाइ-दव्व-हरो) पूजा-दान आदि के धर्म-द्रव्य का अपहरण करने वाला है– वह (गय-हत्थ-पाद-णासिय-कण्ण-उरंगुल) हाथ-पैर-नासिका-कान-छाती और अंगुल से हीन और (विहीण-दिट्ठिए) दृष्टि से विहीन/अंधा होता है। और (तिव्व-दुक्ख-मूलो) तीव्र दुःख को प्राप्त होता है।

अर्थ—जो जीव पूजा-दान आदि के धर्म द्रव्य का अपहरण करने वाला है, वह हाथ-पैर-नासिका-कान-छाती अँगुली से रहित/हीन और दृष्टि से विहीन/अंधा होता है। और महा/तीव्र दुख को प्राप्त करता है। अर्थात् ऐसा जीव लूला, लँगड़ा, बहरा, गूँगा, विकलांग, अंधा आदि होता हुआ घोर दुखों को प्राप्त करता है।

पूजा-दानादि धर्मकार्यों में अन्तराय करने का फल

खय-कुट्ठ-मूल-सूला, लूय-भयंदर-जलोयर-क्खिसिरो।
सीदुण्ह वाहिराइ, पूया-दाणंतराय-कम्म-फलं ।।३६।।

अन्वयार्थ—(खय-कुट्ठ-मूल-सूला) क्षय रोग, कुष्ठ रोग, मूल व्याधि शूल (लूय) लूता—वायु का एक रोग अथवा मकड़ी का फरना (भयंदर) भगंदर (जलोयर-क्खिसिरो) जलोदर-अक्षी/

नेत्र रोग, सिर पीड़ा/सिर के रोग (सीदुण्ह-वाहिराइ) शीत से, उष्णता से, शीतोष्ण से होने वाली सन्निपात आदि व्याधियाँ—ये सब (पूया-दाणंतराय-कम्म-फलं) पूजा-दान आदि धर्म कार्यों में किये गये अन्तराय कर्म का फल है।

अर्थ—क्षय रोग/टी.बी. आदि कुष्ठरोग, मूल व्याधि, लूता-वातरोग अथवा मकड़ी का फरना, भगंदर, जलोदर, नेत्र रोग, सिर के रोग, शीत, उष्ण व शीतोष्ण से उत्पन्न सन्निपात, पित्तज्वर, जुकाम आदि व्याधियाँ ये सब पूजा-दान आदि धर्म-कार्यों में किये गये अन्तराय कर्म का फल है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वंदना और स्वाध्याय आदि धर्म कार्यों में विघ्न डालने का फल

णरय-तिरियाइ-दुगइ-दारिद्द-वियलंग-हाणि-दुक्खाणि।
देव-गुरु-सत्थ-वंदण-सुद-भेद-सज्झय-विघण-फलं ।।३७।।

अन्वयार्थ—(णरय) नरक (तिरियाइ) तिर्यंच आदि (दुगइ) दुर्गति (दारिद्दं) दरिद्रता (वियलंग) विकलांग (हाणि) हानि [व्यापारादि कार्यों में] (दुक्खाणि) और दुख ये सब (देव-गुरु-सत्थवंदण) देव-वन्दना, गुरु-वन्दना, शास्त्र-वन्दना (सुद-भेद-सज्झय-विघण-फलं) श्रुतभेद, स्वाध्याय में विघ्न करने का फल है।

अर्थ—नरक-तिर्यंच आदि दुर्गति, दरिद्रता, विकलांग, हानि [व्यापारादि कार्यों में] और दुःख, ये सब देव-वन्दना, गुरु-वन्दना, शास्त्र-वन्दना, श्रुतभेद और स्वाध्याय में विघ्न करने का फल है। अर्थात् जो जीव देव-शास्त्र-गुरु की वन्दना में विघ्न करता है, श्रुत भेद करता है और स्वाध्याय में विघ्न करता है वह नरक, तिर्यंच आदि दुर्गति को प्राप्त करता हुआ, विकलांगी, हानियुक्त होकर संसार के सभी विचित्र दुखों को प्राप्त होता है।

पञ्चमकाल में विशुद्धि की हीनता [काल-प्रभाव]

सम्म-विसोही-तव-गुण-चारित्त-सण्णाण-दाण-परिहीणं।
भरहे दुस्सम-याले, मणुयाणं, जायदे णियदं ।।३८।।

अन्वयार्थ—इस (भरहे) भरतक्षेत्र में (दुस्सम-याले) दुःखमा पञ्चमकाल में (मणुयाणं) मनुष्यों के (सम्म-विसोही) सम्यक्त्व की विशुद्धि (तव-गुण-चारित्त-सण्णाण-दाण-परिहीणं) तप, गुण, चारित्र, सम्यक्ज्ञान, दान में परिहीनता (णियदं) निश्चित ही (जायदे) होती है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—इस भरत क्षेत्र में दुःखमा पञ्चमकाल में मनुष्यों के सम्यक्त्व की विशुद्धि तप, गुण, मूलगुण, उत्तरगुण, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान व दान में द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव की अपेक्षा हीनता नियम से होती है। अर्थात् इस पंचम काल का ऐसा ही प्रभाव है कि इस समय भरत-क्षेत्र में क्षायिक सम्यक्दृष्टि, तपस्वी, मूलगुणों के व उत्तरगुणों के पूर्ण धारक/पालक व सम्यक्चारित्र/चारित्र ज्ञान और सुपात्र दान इनमें परिहीनता नियम से देखी जाती है।

दुर्गति का पात्र कौन ?

णहि दाणं णहि पूया णहि सीलं णहि गुणं ण चारित्तं।
जे जइणा भणिया ते णेरइया होंति कुमाणुसा तिरिया ।। ३९।।

अन्वयार्थ—(जे) जो मनुष्य (णहि) न ही (दाणं) दान देते हैं (णहि) न ही (पूया) पूजा करते हैं (णहि) न ही (सीलं) शील पालते हैं (णहि) न ही (गुण) मूलगुण धारण करते हैं और (न) (चारित्तं) चारित्र पालन करते हैं (ते) वे मनुष्य (णेरइया) नारकी (कुमाणुसा) कुमानुष और (तिरिया) तिर्यंच (होंति) होते हैं–ऐसा (जइणा) जिनदेव ने (भणिया) कहा है।

अर्थ—जो मनुष्य न तो दान देते हैं, न ही पूजा करते हैं, न ही शील पालते हैं, न ही गुण धारण करते हैं और न चारित्र आचरण करते है, वे मनुष्य नारकी, कुमानुष और तिर्यंच होते हैं–ऐसा जिनदेव ने कहा है।

भावार्थ—मानव पर्याय की दुर्लभता को जानकर प्रत्येक मानव का कर्तव्य है कि वह जीवन में पूजा-दान, शील, गुण और चारित्र का आचरण शक्ति अनुसार अवश्य करे। यदि नहीं करता है तो उसे दुर्गति का पात्र अवश्य बनना पड़ेगा।

हेयोपादेय से रहित जीव मिथ्यादृष्टि है

ण वि जाणइ कज्ज-मकज्जं सेय-मसेयं पुण्ण-पावं हि ।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
तच्च-मतच्चं धम्म-मधम्मं सो सम्म-उम्मुक्को ।।४०।।

अन्वयार्थ—[जो] (कज्ज-मकज्ज) कार्य-अकार्य/कर्तव्य-अकर्तव्य (सेय-मसेयं) कल्याण-अकल्याण (पुण्ण-पावं) पुण्य-पाप (तच्च-मतच्चं) तत्त्व-अतत्त्व (धम्म-मधम्मं) धर्म-अधर्म को (ण वि) नहीं (जाणइ) जानता है (सो) वह (हि) निश्चय से (सम्म-उम्मुक्को) सम्यक्त्व से रहित है ।

अर्थ—जो जीव कर्तव्य-अकर्तव्य/कार्य-अकार्य, कल्याण-अकल्याण/श्रेय-अश्रेय, पुण्य-पाप, तत्त्व-अतत्त्व, धर्म-अधर्म को नहीं जानता है वह निश्चय से/वस्तुतः सम्यक्त्व से रहित है।

हेयोपादेय रहित जीव के सम्यक्त्व कहाँ ?

ण वि जाणइ जोग्ग-मजोग्गं णिच्च-मणिच्चं हेय-मुवादेयं ।
सच्च-मसच्चं भव्व-मभव्वं सो सम्म-उम्मुक्को ।।४१।।

अन्वयार्थ—[जो] (जोग्ग-मजोग्गं) योग्य-अयोग्य (णिच्च-मणिच्चं) नित्य-अनित्य (हेय-मुवादेयं) हेय-उपादेय (सच्च-मसच्चं) सत्य-असत्य (भव्व-मभव्वं) भव्य-अभव्य को (ण वि) नहीं (जाणइ) जानता है (सो) वह (सम्म-उम्मुक्को) सम्यक्त्व से रहित है ।

अर्थ—जो जीव योग्य-अयोग्य, नित्य-अनित्य, हेय-उपादेय, सत्य-असत्य, भव्य-अभव्य को नहीं जानता है वह सम्यक्त्व से रहित है।

लौकिक जनों की संगति योग्य नहीं

लोइय-जण-संगादो, होइ महा-मुहर-कुडिल-दुब्भावो ।
लोइय-संगं तह्मा, जोइवि तिविहेण मुच्चाहो ।।४२।।

अन्वयार्थ—[मनुष्य] (लोइय-जण-संगादो) लौकिक जनों की संगति से (महा-मुहर-कुडिल-दुब्भावो) महा-वाचाल, कुटिल, दुर्भाव युक्त (होइ) हो जाता है (तह्मा) इसलिये (जोइवि) अच्छी तरह देखभाल कर (लोइय-संगं) लौकिक जनों की संगति को (तिविहेण) तीनों प्रकार मन-वचन-काय से (मुच्चाहो) छोड़ देना चाहिये।

अर्थ—मनुष्य लौकिक जनों की संगति से महा-वाचाल/अत्यधिक बोलने वाला, कुटिल, दुर्भावना युक्त हो जाता है, इसलिये अच्छी तरह से देखभाल कर लौकिक जनों की संगति का मन-वचन काय से त्याग कर देना चाहिये। अर्थात् संगति विचारपूर्वक ही करना चाहिये क्योंकि—

संगत ही गुण उपजै, संगत ही गुण जाय।
बाँस, फाँस अरु मीसरी, एक ही भाव बिकाय॥

सम्यक्त्वरहित जीव कौन ?

उग्गो तिव्वो दुट्ठो, दुब्भावो दुस्सुदो दुरालावो।
दुम्मद-रदो विरुद्धो, सो जीवो सम्म-उम्मुक्को॥४३॥

अन्वयार्थ—जो जीव (उग्गो) उग्र (तिव्वो) तीव्र (दुट्ठो) दुष्ट (दुब्भावो) दुर्भावना युक्त (दुस्सुदो) मिथ्या-शास्त्रों को सुनने वाला (दुरालावो) दुष्ट वचनालाप करने वाला/दुष्टभासी (दुम्म-रदो) मिथ्या अभिमान/अहंकार में रत और (विरुद्धो) आत्मधर्म के विरुद्ध/देव-शास्त्र-गुरु की आज्ञा के विरुद्ध है (सो जीवो) वह जीव (सम्म-उम्मुक्को) सम्यक्दर्शन से रहित है।

अर्थ—जो जीव उग्र प्रचंड, क्रोध प्रकृति वाला है, तीव्र स्वभाव वाला है दुष्ट, दयाहीन परिणाम/क्रूर प्रकृति वाला है दुर्भाव, दुःशील युक्त है मिथ्याशास्त्रों को सुनने वाला है, दुष्टभाषी/मिथ्या प्रलाप/ भंड वचनों को बोलने वाला है, मिथ्या अहंकार में अनुरक्त है तथा आत्मधर्म व देव-शास्त्र-गुरु की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने वाला है; वह जीव सम्यक्त्व रहित है।

क्षुद्र स्वभावी व दुर्भावना युक्त जीव सम्यक्त्व हीन हैं

खुद्दो-रुद्दो रुट्ठो, अणिट्ठ पिसुणो सगव्वियो-सूयो ।
गायण-जायण-भंडण-दुस्सण-सीलो दु सम्म-उम्मुक्को ।।४४।।

अन्वयार्थ—(खुद्दो) क्षुद्र प्रकृति वाले (रुद्दो) रुद्र प्रकृति वाले (रुट्ठो) रुष्ट प्रकृति वाले (अणिट्ठ) दूसरों का अनिष्ट चाहने वाले (पिसुणो) चुगलखोर (सगव्वियो) गर्व सहित (असूयो) ईर्ष्यालु (गायण) गायक (जायण) याचक (भंडण) गाली देने वाले/ कलह करने वाले (दु) और (दुस्सण-सीलो) दूसरों को दोष लगाना स्वभाव है जिसका—ये सब (सम्म-उम्मुक्को) सम्यग्दर्शन से रहित होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—जो जीव क्षुद्र अर्थात् हीन स्वभाव वाले हैं, रुद्र अर्थात् रौद्र/क्रूर/निर्दयी स्वभाव वाले है, रुष्ट प्रकृति अर्थात् छोटी-छोटी बातों में रुष्ट होने वाले हैं, दूसरे का अनिष्ट चाहने वाले या दूसरों का अनिष्ट करने वाले हैं, चुगलखोर—दूसरों की बातों को उल्टा-सुल्टा भिड़ाने वाले हैं, ईर्ष्यालु/असहिष्णु हैं, गायक हैं, याचक हैं, अप्रिय, भंड वचनों को बोलने वाले हैं/कलहप्रिय हैं और दूसरों को दोष लगाना/अवर्णवाद करने वाले हैं ये सब सम्यक्त्व रहित हैं। अर्थात् क्षुद्र, रौद्र, रुष्ट, अनिष्ट आदि दुर्भावना वाले प्राणी सम्यक्त्व रहित होते हैं।

जिन-धर्म विनाशक जीवों के स्वभाव

वाणर-गद्दह-साण-गय, वग्घ-वराह-कराह ।
मक्खि-जलूय-सहाव-णर, जिणवर धम्म विणास ।।४५।।

अन्वयार्थ—(वाणर) बन्दर (गद्दह) गधा (साण) कुत्ता (वग्घ) बाघ (वराह) सूकर/सुअर (कराह) कछुआ/कच्छप (मक्खि) मक्खी (जलूय) जोंक (सहाव-णर) स्वभाव वाले मनुष्य (जिणवर धम्म) जिनवर धर्म के (विणास) विनाशक हैं।

अर्थ—बन्दर, गधा, कुत्ता, बाघ, सूकर, कछुआ, मक्खी, जोंक स्वभाव वाले मनुष्य जिनेन्द्र के श्रेष्ठ धर्म के विनाशक होते हैं।

बन्दर स्वभावी—चंचल स्वभावी होता है, चंचलता में हाथ में आई उत्तम वस्तु को भी तोड़-फोड़ समाप्त कर देता है इसी प्रकार चंचल स्वभावी मानव धर्म के विनाशक होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गधा स्वभावी—''पशूनाम् चाण्डाल गर्दभ:'' पशुओं में गधे को चाण्डाल की उपमा दी गई है क्योंकि गधा घास खाते समय जड़ से उखाड़ कर खाता है। आगम में कथन है कि जड़ से उखाड़कर खाने वाला कृष्णलेश्या वाला है। कृष्णलेश्या वाला गर्दभ स्वभावी है अत: धर्म का विनाशक है।

कुत्ता स्वभावी—कुत्ता साधर्मी को देखकर भोंकता है, गुर्राता है, उत्तम भोजन मिलने पर भी नहीं खाता, मल/गंदगी खाता है, उसकी पूँछ सौ बार सीधी करो टेढ़ी ही रहती है वैसे ही श्वान स्वभाव वाले जीवों को साधर्मी का सत्संग नहीं रुचता है, वे धर्मात्माओं को देखकर कुत्ते की तरह चिल्लाते हैं, गरजते हैं, घर का शुद्ध भोजन उन्हें नहीं रुचता। बाजार का अभक्ष्य भी रुचि से खाते हैं। ये श्वान स्वभाव वाले जीव धर्म के विनाशक हैं।

सूकर स्वभावी—सूकर मल-प्रिय है। शुद्ध मिष्ठान्न सामने रखने पर भी मल की ओर ही दौड़ता है। सूकर स्वभाव वाले मानव पाप प्रकृति युक्त होते हैं, गुणों को नहीं, सदा दोषों को देखने में आनंद मानते है, ये धर्म-विनाशक हैं।

कछुआ स्वभावी—कछुआ की पीठ इतनी शक्त होती है कि गोली भी मारो, कोई असर नहीं होता। उसी प्रकार कछुआ स्वभाव वाले मनुष्यों को कितना भी धर्म समझाओ, उन पर उसका कोई असर नहीं होता। अपनी बात को करने के लिए ऐसे डटे रहेंगे कि सौ मारो, सहन करेंगे पर पाप को नहीं छोड़ेंगे। ऐसे जीव भी धर्म के विनाशक ही हैं।

मक्खी स्वभावी—

माखी गुड़ में गड़ी रहे, पंख रह्यो लिपटाय।
हाथ मले और सिर धुने, लालच बुरी बलाय॥

मक्खी के समान लोभी जीवों को धर्म की रुचि नहीं होती है अत: वे धर्म के विनाशक हैं। कहा भी है—

पापी लोभी जीव को, धर्म कथा न सुहाय।
कै ऊँगे के लड़-मरे, कै उठ घर को जाय॥

जोंक स्वभावी—जोंक सदा खून चूसती है उसी प्रकार जो जीव गुणों को छोड़कर अवगुणों को ग्रहण करते हैं, वे जोंक स्वभावी जीव धर्म-विनाशक हैं।

रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन की मुख्यता

सम्म विणा सण्णाणं, सच्चारित्रं ण होइ णियमेण।
तो रयणत्तय मज्झे, सम्म-गुणु-क्किट्ठ-मिदि जिणुदिट्ठं॥४६॥

अन्वयार्थ—(सम्म विणा) सम्यग्दर्शन के बिना (सण्णाणं) सम्यग्ज्ञान व (सच्चारित्रं) सम्यग्चारित्र (णियमेण) नियम से (ण) नहीं (होइ) होते हैं (तो) इसीलिये (रयणत्तय मज्झे) रत्नत्रय में (सम्म-गुणु-किट्ठं) सम्यग्दर्शन गुण उत्कृष्ट है (इदि) ऐसा (जिणुदिट्ठं) जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अर्थ—सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र नियम से नहीं होते हैं अत: रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन गुण उत्कृष्ट है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। इसी भाव को छहढ़ालाकार दौलतराम जी लिखते हुए कहते हैं—

मोक्षमहल की परथम सीढ़ी या बिन ज्ञान चारित्रा।
सम्यक्ता न लहे सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।
दौल समझ सुन चेत सयाने काल वृथा मत खोवे।
यह नर-भव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहीं होवे॥

हे भव्यात्माओं! सम्यग्दर्शन के बिना ग्यारह अंग नौ पूर्व का पाठी भी मिथ्याज्ञानी और घोर तपस्वी की कुचारित्र आराधक कहलाता है।

अत: मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी रूप सम्यक्त्व को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो।

सम्यक्त्व की हानि कैसे ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कुतव कुलिंगि कुणाणी, कुवय कुसीले कुदंसण कुसत्थे।
कुणिमित्ते संथुय थुइ, पसंसणं सम्म-हाणि होइ णियमं।।४७।।

अन्वयार्थ—(कुतव) कुतप (कुलिंगि) कुलिंगी/मिथ्यावेष धारण करने वाले में (कुणाणी) मिथ्याज्ञानी में (कुवय) कुव्रत में (कुसीले) कुशील/मिथ्याशील में (कुदंसण) मिथ्यादर्शन में (कुसत्थे) कुशास्त्र में (कुणिमित्ते) मिथ्या निमित्तों में (थुइ) स्तुति (संथुय) संस्तुति तथा (पसंसणं) प्रशंसा करने से (णियमं) नियम से (सम्म-हाणि) सम्यक्त्व की हानि (होइ) होती है।

अर्थ—मिथ्यातप का आचरण करने वाले, मिथ्याभेष धारक, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याव्रतों के आचरण करने वाले, मिथ्याशील के धारक, मिथ्यादृष्टि, कुशास्त्र याने हिंसा की पुष्टि करने वाले मिथ्या-शास्त्र और मिथ्या निमित्तों की स्तुति, संस्तुति तथा प्रशंसा करने से सम्यक्त्व गुण की हानि नियम से होती है।

तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में उमास्वामि आचार्य ने मिथ्या श्रद्धानी, मिथ्याज्ञानी व मिथ्याचारित्र के आराधकों की प्रशंसा व स्तुति करने को सम्यग्दर्शन अतिचार/सम्यक्त्व की हानि कहा है। यहाँ भी आचार्य देव कुन्द-कुन्द स्वामी का भी भाव यही है कि संसार-सागर में डुबोने वाले कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र और कुगुरु सेवक, कुशास्त्र सेवक व कुदेव सेवक ये छ: अनायतन हैं। ये सम्यक्त्व को दूषित करने वाले हैं, सम्यक्त्व की हानि करने वाले हैं अत: सम्यग्दृष्टि जीव इनकी स्तुति व प्रशंसा न करें।

अहो ! सबसे बड़ा कष्ट मिथ्यात्व

तणु-कुट्ठी कुलभंगं, कुणइ जहा मिच्छ-मप्पणो वि तहा।
दाणाइ सुगुण भंगं, गइ-भंगं मिच्छ-मेव हो कट्ठं।।४८।।

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (तणु-कुट्ठी) शरीर का कोढी व्यक्ति (कुलभंगं कुणइ) कुल का नाश करता है (तहा) उसी प्रकार (मिच्छं वि) मिथ्यात्व भी (अप्पणो) आत्मा के (दाणाइ सुगुण भंगं) दान आदि उत्तम गुणों का नाश करने वाला और (गइ-भंगं) सद्गति का नाशक है (हो) अहो (मिच्छ-मेव कट्ठं) मिथ्यात्व ही कष्ट है।

अर्थ—जैसे शरीर का कोढ़ी/कुष्ट रोग से दूषित व्यक्ति अपने रक्त-सम्बन्ध से अपने कुल का विनाश कर देता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व भी आत्मा के दान-पूजा आदि उत्तम/सद्गुणों का नाश करने वाला और सद्गति का विनाशक है, अहो ! मिथ्यात्व ही कष्ट है। तात्पर्य है कि मिथ्यात्व-रूपी कुष्ट ने अनादिकाल से जीव के उत्तमोत्तम गुणों का विनाश किया है, उत्तमगति में जाने मे विरोध किया है। तीन लोक-तीन काल में मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा कष्ट है। यही अकल्याण का मूल कारण है।

सम्यग्दृष्टि ही धर्मज्ञ है

देव-गुरु-धम्म-गुण-चारित्त-तवायार-मॉक्ख-गइभेयं।
जिणवयण सुदिट्ठि विणा, दीसइ किं जाणए सम्मं ।।४९।।

अन्वयार्थ—(देव-गुरु-धम्म-गुण-चारित्त-तवायार-मॉक्ख-गइभेयं) देव-गुरु-धर्म-गुण-चारित्र-तपाचार-मोक्षगति का रहस्य (जिणवयण) जिनदेव के वचन (सुदिट्ठिविणा) सम्यग्दृष्टि बिना (किं) क्या (सम्मं) समीचीन रूप से (दीसए-जाणए) देखे-जाने जा सकते हैं ? [अर्थात् नहीं। सम्यग्दृष्टि के द्वारा ही सम्यक् प्रकारेण देखे जा सकते हैं व जाने जा सकते हैं।]

अर्थ—देव-गुरु-धर्म-गुण-चारित्र-तपाचार और मोक्षगति का रहस्य तथा जिनदेव के वचन सम्यग्दृष्टि के बिना क्या समीचीन रूप से देखे व जाने जा सकते हैं ? सम्यग्दृष्टि ही सबको देखता व जानता है।

यहां आचार्य देव के कथन का भाव यह है कि—सम्यग्दृष्टि जीव ही समीचीन रूप से सच्चे-देव, निर्ग्रंथ गुरु, अहिंसामयी धर्म, आत्मा के अनन्तगुण,

चारित्र, तपाचार व मोक्षगति के रहस्यमयी सुख, जिनेन्द्र देव की महिमामयी वाणी को देख और जान सकता है। इसलिये अपनी दृष्टि को समीचीन बनाना ही धर्मज्ञ का कर्तव्य है।

मिथ्यादृष्टि की पहचान

ऍक्क खणं ण वि चिंतइ, मोंक्ख-णिमित्तं णियप्प-सहावं।
अणिसं विचिंत्तइ-पावं बहुला-लावं मणे विचिंतेइ ।।५०।।

अन्वयार्थ—[मिथ्यादृष्टि जीव] (मोंक्ख-णिमित्त) मुक्ति-प्राप्ति में निमित्तभूत (णियप्पसहावं) अपने आत्म स्वभाव को (एक्क खणं वि) एक क्षण मात्र भी (चिंतइ) चिंतन (ण) नहीं करता है (अणिसं) निरन्तर/रात-दिन (पावं) पाप का (विचिंतइ) चिंतन करता है और (मणे) मन में (बहुला-लावं) बहुत से दूसरों के प्रति (विचिंतेइ) सोचता रहता है।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव मुक्ति प्राप्ति में निमित्त भूत अपने आत्मस्वभाव का एक क्षण भी चिंतन नहीं करता है, रात-दिन पाप का चिंतन करता है और मन में दूसरों के प्रति बहुत बातें सोचता रहता है। अर्थात् मिथ्यादृष्टि संसार को बढ़ाने वाली पाप रूप बातों का तो निरंतर चिंतन करता है, पर अपने आत्म स्वभाव का एक क्षण भी चिंतन नहीं करता है।

साम्य—भाव का घातक

मिच्छामइ मय-मोहासव-मत्तो बोंल्लएँ जहा-भुल्लो।
तेण ण जाणइ अप्पा, अप्पाणं सम्म-भावाणं ।।५१।।

अन्वयार्थ—(मिच्छामइ) मिथ्यादृष्टि जीव (जहा-भुल्लो) भुलक्कड़ के समान (मय-मोहासव-मत्तो-बोंल्लएँ) मद-मोह रूपी मदिरा से मस्त होकर व्यर्थ बोलता है (तेण) इसलिये वह (अप्पा) आत्मा और (अप्पाणं) आत्मा के (सम्म-भावाणं) साम्य भाव को (ण) नहीं (जाणइ) जानता है।

दर्शक :- आचार्य श्री ...दिसागर जी महाराज

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव भुलक्कड़/पागल की तरह व्यर्थ बोलता है/बकवास करता है इसलिये वह अपनी आत्मा और आत्मा के साम्य/समता-मय अमूल्य भाव को नहीं जानता है। तात्पर्य यह कि मिथ्यादृष्टि सत्य को सत्य, असत्य को सत्य, सत्य को असत्य कहता हुआ व्यर्थ प्रलाप करता रहता है फलत: अपने आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ वह आत्मा के असली स्वभाव-समतारस के रसास्वादन का आनंद नहीं ले पाता है।

उपशम भाव के कार्य

पुव्वट्ठि खवइ कम्म, पविसदु णो देइ अहिणवं कम्मं।
इह-परलोय महप्पं, देइ तहा उवसमो भावो।।५२।।

अन्वयार्थ—[भव्य जीवों का] (उवसमो भावो) उपशम भाव (पुव्वट्ठिद कम्म) पूर्वस्थित/पूर्वबद्धकर्मों का (खवइ) क्षय करता है (अहिणवं कम्मं) अभिनव कर्मों को (पविसदु णो देइ) प्रवेश नहीं देता है (तहा) तथा (इह-परलोयं) इस लोक व परलोक में (महप्पं) महत्व/माहात्म्य को (देइ) देता है।

अर्थ—भव्य जीवों का उपशमभाव अनादि काल से बद्ध/पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा/क्षय करता है तथा अभिनव/नवीन कर्मों का आत्मा में संवर करता है और इस लोक व परलोक में जीव के माहात्म्य को प्रकट करता है।

भव्यजीव के उपशमभाव से ३ कार्य सिद्ध होते हैं—१.पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा, २. नवीन कर्मों का संवर और ३. उभय लोक में यश-कीर्ति-माहात्म्य की प्रसिद्धि। यहाँ आचार्य देव का तात्पर्य है—हे भव्यात्माओ ! उपशम भाव को प्राप्त करो। अनादिकालीन मिथ्यात्व की बेड़ी में जकड़े जीव के सर्वप्रथम औपशमिक सम्यक्त्व ही होता है और एक बार औपशमिक सम्यक्त्व होते ही उसका अनन्त संसार हमेशा के लिए छूट जाता है। औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति में अग्रसर उपशम भाव का धारक जीव, ३४ बंधापसरण करता हुआ सम्यक्त्व के अभिमुख हो पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा, आने वाले नवीन कर्मों का संवर करता हुआ उभय लोक में माहात्म्य को प्रकट करता है।

समय का उपयोग

सम्माइट्ठी कालं बोल्लइ वेरग्ग-णाण भावेण ।
मिच्छाइट्ठी वांछा दुब्भावा-लस्स-कलहेहिं ।।५३।।

अन्वयार्थ—(सम्माइट्ठी) सम्यग्दृष्टि (कालं) का समय (वेरग्ग-णाण-भावेण) वैराग्य और ज्ञान भाव से (बोल्लइ) बीतता है (मिच्छाइट्ठी कालं) मिथ्यादृष्टि का समय (वांछा) इच्छा/वांछा/तृष्णा/(दुब्भावा-लस्स) दुर्भाव/अशुभभाव व आलस्य तथा (कलहेहिं) कलह झगड़े में बीतता है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव अपना समय वैराग्य और ज्ञान भाव से व्यतीत करता है जबकि मिथ्यादृष्टि आकांक्षा/इच्छा-तृष्णा/वांछा, दुर्भावना, आलस्य और कलह से अपना समय व्यतीत करता है ।

अमृतचन्द्राचार्य देव लिखते हैं—**''सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान वैराग्य शक्ति''** ''सम्यग्दृष्टि जीवों के अन्दर ज्ञान और वैराग्य की शक्ति निश्चय ही होती है'' अत: उनका अमूल्य जीवन ज्ञान और वैराग्य से आत्मा की साधना में बीतता है । मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञान रूपी निद्रा में सुप्त हुआ राग-रूपी मदिरा का पान करता रहता है अत: उसका समय तृष्णा, अशुभ भावना, प्रमाद और लड़ाई-झगड़ो में बीतता है ।

भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल

अज्जव-सप्पिणी भरहे, पउरा रूद्दट्ठ झाणया दिट्ठा ।
णट्ठा दुट्ठा कट्ठा पापिट्ठा किण्ण-णील-काओदा ।।५४।।

अन्वयार्थ—(अज्जव-सप्पिणी) आज वर्तमान/हुण्डावसर्पिणी काल में (भरहे) भरत क्षेत्र में (रूद्दट्ठ-झाणया) रौद्र व आर्त्तध्यान युक्त जीव (णट्ठा) नष्ट (दुट्ठा) दुष्ट (कट्ठा) कष्ट (पापिट्ठा) पापिष्ट (किण्ण-णील-काओद) कृष्ण-नील-कापोत लेश्या वाले (पउरा) अधिक (दिट्ठा) देखे जाते हैं ।

अर्थ—आज भरत क्षेत्र अवसर्पिणी काल में आर्त्त-रौद्रध्यान युक्त, नष्ट, दुष्ट, पापी तथा कृष्ण-नील-कापोत लेश्या वाले जीव अधिक मात्रा में देखे जाते हैं।

वर्तमान में भरत क्षेत्र में हुण्डावसर्पिणी काल चल रहा है। यह काल असंख्यात कल्प काल बीतने के बाद आता है। आज चारों ओर प्राय: लोग आर्त्त-रौद्रध्यान से दु:खी/संक्लेशित हैं, धन-जन-तेज आदि से हीन होने से नष्ट हैं, दया-करुणा-अनुकंपा नहीं होने से दुष्ट/निर्दयी हो गये हैं, पापभीरुता मानव-मन से निकल चुकी है अत: पापी तथा कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओं से युक्त दिखाई दे रहे हैं यह सब हुण्डावसर्पिणी काल का ही प्रभाव है। क्योंकि इस काल में अनहोनी घटनाएँ होती ही हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आर्त्तध्यान व उसके भेद–दु:ख या पीड़ा रूप ध्यान को आर्त्तध्यान कहते हैं। इस ध्यान के ४ भेद हैं—१. इष्ट वियोगज, २. अनिष्ट संयोगज ३. पीड़ा चिन्तन और ४. निदान बन्ध।

रौद्रध्यान–रुद्रता में होने वाला ध्यान रौद्रध्यान है। इसके भी चार भेद हैं ? हिंसानन्दी २. मृषानन्दी ३. चौर्यानन्दी और ४. परिग्रहानन्दी।

सम्यग्दृष्टि जीवों की दुर्लभता

अज्ज-वसप्पिणि भरहे पंचम-याले मिच्छ-पुव्वया सुलहा।
सम्मत्तपुव्व सायारणयारा दुल्लहा होंति।।५५।।

अन्वयार्थ—(अज्ज-वसप्पिणि) आज/वर्तमान अवसर्पिणी [हुण्डावसर्पिणी] काल में (भरहे) भरत क्षेत्र में (पंचम-याले) पंचम/दु:खम काल में (मिच्छ-पुव्वया) मिथ्यादृष्टि जीव (सुलहा) सुलभ हैं; किन्तु (सम्मत्त-पुव्व) सम्यग्दृष्टि (सायारणयारा) गृहस्थ और मुनि दोनों दुर्लभ (होंति) होते हैं।

अर्थ—भरत क्षेत्र में अभी वर्तमान काल में पंचम काल में अवसर्पिणी काल उसमें भी अनहोनी बातों को करने वाला विचित्र ऐसा हुण्डावसर्पिणी

काल चल रहा है। इस पंचम/दु:खम काल में भरतक्षेत्र में मिथ्यादृष्टि जीव सुलभ हैं; किन्तु सम्यग्दृष्टि गृहस्थ और मुनि दोनों ही दुर्लभ हैं।

पंडित आशाधरजी लिखते हैं—

> कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ् मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
> खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतंते क्वचिद् क्वचित् ॥ ७ ॥ [सा.ध]

खेद है कलिकाल विस्तार को प्राप्त है, मिथ्यात्वरूपी बादल दसों दिशाओं में मँडरा रहे हैं, ऐसे समय में सम्यग्दृष्टि/सदुपदेश जुगनू की तरह कहीं-कहीं ही चमकते हुए दिखाई देंगे।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

निर्मल, शुद्ध सम्यक्त्व

[१]कतक-फल-भरिय-णिम्मल जलं ववगय कालिमा सुवण्णं च।
मल-रहिय-सम्म-जुत्तो भव्ववरो लहइ लहु सोंक्खं ।।५५।।

अन्वयार्थ—(कतक-फल) निर्मली (भरिय) भरित/युक्त (णिम्मल जलं) निर्मल/पवित्र जल (च) और (ववगय कालिमा) किट्टकालिमा से रहित (सुवण्णं) स्वर्ण [के समान] (मल-रहिय-सम्म-जुत्तो) २५ मल दोषों से रहित, सम्यक्त्व युक्त (भव्ववर) भव्योत्तम/ निकटभव्य जीव (लहु) शीघ्र ही (सोंक्खं) भुक्ति व मुक्ति के शाश्वत उत्तम सुख को (लहइ) प्राप्त करता है।

अर्थ—जैसे नदी का बरसाती गँदला जल पीने के अयोग्य होने से उसमें निर्मली/कतकफल डालने पर वह शुद्ध पेय/पीने योग्य हो जाता है। खान से निकल स्वर्ण पाषाण किट्ट कालिमा से युक्त होने से सामान्य पाषाण की कीमत को ही प्राप्त करता है किन्तु वही स्वर्ण सुनार के १६ ताव लगकर किट्ट कालिमा से कीमत रहित बहुमूल्यता को प्राप्त हो जाता है। वैसे ही जो अनादिकाल से कर्म रूप किट्टकालिमा युक्त जीव संसार में भ्रमण कर मलीन हो रहा है। वही भव्योत्तम २५ मल दोषों रहित शुद्ध/निर्मल सम्यक्त्वरूपी रत्न को प्राप्त कर सहज ही/शीघ्र ही लीला मात्र में

१– ब प्रति में उपलब्ध गाथा नं. ५५

संसार के उत्तमोत्तम सुखों को प्राप्त करता हुआ मुक्तिधाम के अतीन्द्रिय, शाश्वत सुखों को प्राप्त करता है।

अवसर्पिणीकाल में भी धर्म्यध्यान होता है

अज्ज-वसप्पिणि भरहे, धम्मज्झाणं पमाद-रहिदो त्ति।
होदि त्ति जिणुद्दिट्ठं, ण हु मण्णइ सो हु कुदिट्‌ठी।।५६।।

अन्वयार्थ—(भरहे) भरतक्षेत्र में (अज्ज-वसप्पिणि) आज/इस वर्तमान अवसर्पिणी काल में (धम्मज्झाणं) धर्म्यध्यान (पमाद-रहिदो त्ति) प्रमाद-रहित होता है (त्ति) ऐसा (जिणुद्दिट्ठ) जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो ऐसा (ण हु) नहीं मानता है (सो) वह (हु) निश्चय से (कुदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि है।

अर्थ—भरतक्षेत्र में आज भी इस अवसर्पिणी काल में जीवों के धर्म्यध्यान प्रमाद रहित होता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। जो ऐसा नहीं मानता है वह निश्चय से मिथ्यादृष्टि है।

इस दुःखम हुण्डावसर्पिणी विषम काल में भी धर्मात्मा गृहस्थ व मुनियों के धर्म्यध्यान का निषेध नहीं है। हाँ ! इस काल में शुक्लध्यान का निषेध है।

इसी बात को मोक्षप्राभृत ग्रंथ में कुन्दकुन्द देव लिखते हैं—

भरहे दुस्सम-काले धम्मज्झाणं हवइ साहुस्स।
तं अप्प-सहाव-सहिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।

भरतक्षेत्र में आत्मस्वभाव में स्थित मुनियों को इस दुस्सम काल में भी धर्म्यध्यान होता है इस बात को जो नहीं मानता है वह अज्ञानी है। और लिखते हैं—

अज्जवि तिरयण-सुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं।
लोयत्तिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदि जंति ।।७७।। अ.पा.

आज भी रत्नत्रय से शुद्धता को प्राप्त हुए मनुष्य आत्मा का ध्यान कर इन्द्रपद तथा लौकान्तिक पद को प्राप्त होते है और वहाँ से च्युत हो निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

जो रुचे सो करो—

असुहादो णिरयाऊ, सुह-भावादो दु सग्ग-सुहमाओ ।
दुह-सुह-भावं जाणदु, जं ते रुच्चेइ तं कुज्जा ।।५७।।

अन्वयार्थ—[हे भव्यात्माओं !] (असुहादो णिरयाऊ) अशुभ भावों से नरक आयु (दु) और (सुह-भावादो) शुभ भावों से (सग्ग-सुहमाओ) स्वर्ग सुख व स्वर्ग आयु प्राप्त होती है। (दुह-सुह भावं) दुख व सुख भावों को (जाणदु) जानो तथा (ते) तुम्हें (जं) जो (रुच्चेइ) रुचे (तं) उसको (कुज्जा) करो।

अर्थ—हे भव्यात्माओं ! अशुभ भावों से नरकायु के असह्य दुख और शुभ भावों से स्वर्ग के उत्तमोत्तम सुख व देवायु की प्राप्ति होती है। दुख-सुख, नरक-स्वर्ग को अच्छी तरह जानों, पश्चात् तुम्हें जैसा रुचे वैसा करो।

जैनाचार्य यहाँ भव्य जीवों को सचेत करते हुए कह रहे हैं—मैं आप लोगों को मात्र मार्ग बता सकता हूँ। सही मार्ग का चयन, असत्य मार्ग का त्याग रूप पुरुषार्थ आपके विवेक पर निर्भर है, सही मार्ग पर चलना आप का स्वयं का कर्तव्य है, अतः आप लोगों को जो रुचे सो करिये।

अशुभभाव रूप परिणाम

हिंसाइसु कोहाइसु मिच्छा-णाणेसु पक्खवाएसु ।
मच्छरिएसु मएसु दुरहि-णिवेसेसु असुह-लेस्सेसु ।।५८।।
विकहाइसु रुद्दट्ट-ज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु ।
सल्लेसु गारवेसु य, जो वट्टदि असुह-भावो सो ।।५९।।

अन्वयार्थ—(हिंसाइसु) हिंसा आदि में (कोहादिसु) क्रोध आदि में (मिच्छा-णाणेसु) मिथ्या ज्ञानों में (पक्खवाएसु) पक्षपातों में (मच्छरिएसु) मात्सर्य में (मएसु) मदों में (दुरहि-णिवेसेसु) दुरभिनिवेशों/दुष्ट अभिप्रायों में (असुह-लेस्सेसु) अशुभलेश्याओं में (विकहाइसु) विकथाओं में (रुद्दट्ट-ज्झाणेसु) रौद्र-आर्त्तध्यानों

में (असुयगेसु) ईर्ष्या में (दंडेसु) असंयमों में (सल्लेसु) शल्यों में (य) और (गारवेसु) गारवों में (जो) जो (वट्टदि) वर्तन होता है (सो) वह (असुह-भावो) अशुभ-भाव है।

अर्थ—हिंसा-झूठ-चोरी कुशील परिग्रह पाँच पापों में, क्रोध-मान-माया-लोभ चार कषायों में, कुमति-कुश्रुत आदि मिथ्या ज्ञानों में, पक्षपातो/सत्य न्याय के अभाव में, मात्सर्य में, ज्ञान-पूजा-कुल-ऋद्धि-जाति-तप-बल-वपु इन आठ मदों में खोटे/दुष्ट अभिप्रायों में, कृष्ण-नील-कापोत तीन लेश्याओं में, राजकथा, भोजनकथा, स्त्री कथा-चोर कथा, चार विकथाओं में, चार आर्त्तध्यान–इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तन, निदान, बंध, चार रौद्रध्यान–हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चोर्यानन्दी व परिग्रहानंदी में, ईर्ष्या असूयं परिणाम में छः प्रकार के इन्द्रिय असयंम–पाँच इन्द्रिय छठे मन को वश नहीं करना। छह प्रकार का प्राणी संयम–पाँच स्थावर, एक त्रस छहनिकायों में दया नहीं पालना रूप असंयमों में, माया-मिथ्या-निदान तीन शल्यों तीन गारव—शब्द गारव, ऋद्धि गारव और सात गारव रूप अहंकार में, मान बढाई रूप परिणामों में वर्तन करने वाले परिणाम अशुभ भाव हैं। वर्ण के उच्चारण का गर्व करना **शब्द गारव** है। शिष्य पुस्तक कमण्डलु-पिच्छि या पट्ट आदि द्वारा अपने को ऊँचा प्रकट करना **ऋद्धि गारव** है तथा भोजनपान आदि से उत्पन्न सुख की लीला से मस्त होकर मोहमद करना **सात गारव** है। [मो.पा.टी.२७/३२२/१]

ये अशुभ भाव सर्वथा त्याज्य हैं। क्योंकि ये अशुभ गति के व अशुभ आयु के निमित्त हैं —

शुभभाव रूप परिणाम

दव्वत्थिकाय छप्पण तच्च-पयत्थेसु सत्त-णवगेसु ।
बंधण-मोॅक्खे तक्कारण-रूवे वारस णुवेक्खे ।।६०।।
रयणत्तयस्य-रूवे अज्जाकम्मे दयाइसद्धम्मे ।
इच्चेव माइगे जो वट्टइ सो होइ सुहभावो ।।६१।।

अन्वयार्थ—क्रमश: (छप्पण) छह पाँच (दव्वत्थिकाय) द्रव्य और अस्तिकाय (सत्त-णवगेसु) साततत्त्व नव-पदार्थ (बंध-मोंक्खे) बन्ध और मोक्ष (तक्कारण-रूवे) उसके कारण स्वरूप (वारसणुवेक्खे) बारह अनुप्रेक्षाओं (रयणत्तयस्स-रूवे) रत्नत्रय-स्वरूप (अज्जा-कम्मे) आर्य कर्म में (दयाइ-सद्धम्मे) दया आदि सद्धर्म में (इच्चेव माइगे) इत्यादि में (जो) (वट्टइ) वर्तन होता है (सो) वह (सुहभावो) शुभ भाव (होइ) होता है।

अर्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल छह द्रव्य। जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश पाँच अस्तिकाय। जीव-अजीव-आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा व मोक्ष सात तत्त्व। जीव-अजीव-आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष-पुण्य व पाप नौ पदार्थ। बंध और मोक्ष। बंध व मोक्ष के कारण। अनित्य-अशरण-संसार-एकत्व-अन्यत्व-अशुचि-आस्रव-संवर-निर्जरा लोक व बोधि-दुर्लभ बारह भावना। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रत्नत्रय स्वरूप। देव-पूजा; गुरुपास्ति-स्वध्याय-संयम-तप व दान आदि आर्य-कर्म दया आदि समीचीन/सत्यधर्म इत्यादि के चिंतन इनके स्वरूप को जानकर तद्रूप आचरण में जो वर्तन होता है, वह शुभ भाव होता है।

शुभ भाव परम्परा से मुक्ति का कारण है। जीव के अशुभ भाव-शुभभाव और शुद्ध भाव ये तीन भाव हैं। इनमें अशुभ भाव तो सर्वथा हेय ही है और जब तक जीवों की परिणति शुद्ध में तन्मय नहीं होती तब तक शुभयोग ही कार्यकारी/उपादेय है। हे भव्यात्माओं ! अशुभ का त्याग करो, शुभ में प्रवृत्ति करो और शुद्ध का लक्ष्य रखो, यही जिनेन्द्रदेव की अनेकांतमयी देशना है। अत: अशुभ भाव सर्वथा हेय है, अशुभ की अपेक्षा शुभ भाव उपादेय हैं और शुद्ध की अपेक्षा शुभभाव गौण है, इस प्रकार वस्तु व्यवस्था का ज्ञान कर जैसी अपनी अवस्था है तदनुसार व्यवस्था का आचरण करना श्रेयस्कर है।

निर्णय स्वयं का

सम्मत्त-गुणाइ सुगइ, मिच्छादो होइ दुग्गइ णियमा ।
इदि जाण किमिह बहुणा, जं रुच्चदि तं कुज्जाहो ।।६२।।

अन्वयार्थ—(सम्मत्त-गुणाइ) सम्यक्त्व आदि गुणों से (सुगइ) सुगति और (मिच्छादो) मिथ्यात्व से (णियमा) नियम से (दुग्गइ) दुर्गति (होइ) होती है। (इदि) इस प्रकार (जाण) जान (इह) यहाँ (बहुणा किं) बहुत कहने से क्या लाभ ? (जं) जो (रुच्चदि) अच्छा लगे (तं) वह (कुज्जाहो) करो।

अर्थ—सम्यक्त्व गुण से नियम से सुगति होती है और मिथ्यात्व से दुर्गति होती है, ऐसा जानकर जो अच्छा लगे सो करो, बहुत कहने से क्या प्रयोजन ?

आचार्य समन्तभद्र स्वामी रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रंथ में लिखते हैं—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनुभृताम् ।।

हे संसारी प्राणियों ! आपके लिए सम्यक्त्व के समान तीन लोक, तीन काल में अन्य कोई कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी भी कोई नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव नारकी, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री, दुष्कुल, विकृतरूप, अल्पायु, दरिद्रता आदि को कभी भी प्राप्त नहीं होता और मिथ्यादृष्टि बार-बार नरक-तिर्यंच आदि दुर्गतियों में भ्रमण करता है। अतः विवेक से काम करो अथवा आप को जो रुचे वही करो। प्रत्येक जीवात्मा ज्ञानमयी है अतः अधिक कहने से क्या लाभ !

मोहीजीव के भवतीर नहीं

मोह ण छिज्जइ अप्पा, दारुण कम्मं करेइ बहुवारं ।
ण हु पावइ भव-तीरं, किं बहु-दुक्ख वहेइ मूढमई ।।६३।।

अन्वयार्थ—(अप्पा) यह आत्मा (मोह) मोह को (ण छिज्जइ) नष्ट नहीं करता है (दारुण कम्मं) दारुण कठिन कर्म-

व्रत-उपवास आदि (बहुवारं) अनेक बार (करेइ) करता है। (हु) निश्चय से वह (भव-तीरं) संसार-समुद्र का तीर / किनारा (ण) नहीं पाता है; फिर (मूढमई) यह मूर्ख (बहुदुक्ख) अनेक दुक्ख (किं वहेइ) क्यों वहन करता है/ क्यों उठाता है।

अर्थ—आश्चर्य है कि यह आत्मा दारुण/कठिन कर्म व्रत-नियम, उपवास आदि तो अनेक बार करता है पर मोह को नष्ट नहीं करता है। निश्चय ही है कि मोह को नष्ट किये बिना यह संसार समुद्र का किनारा नहीं पाता है; फिर भी मूढ़मति/अज्ञानी अनेक प्रकार के दुःख क्यों उठाता है ?

संसाररूपी साम्राज्य का अधिपति मोह है। मोहरूपी राजा का मंत्री अज्ञान है और राग-द्वेष इसके सेनापति हैं। इस जीव पर अनादिकाल से मोहरूपी राजा ने आधिपत्य जमाया है, अज्ञानरूपी मंत्री इसके सलाहकार बने हुए हैं तथा राग-द्वेषरूपी सेनापतियों का अनुशासन खतरे से बाहर नहीं है। ऐसी विकट स्थिति में फँसा जीव घोर तप-व्रत-उपवास पंचाग्नि तप तो करता है पर मोह राजा को वश में करने का पुरुषार्थ नहीं करता है। आचार्य देव कहते हैं मोह सहित घोर तप भी संसार का छेद नहीं करता और मोहरहित थोड़ा तप भी संसार–सागर से छुड़ाकर मुक्ति को पहुँचा देता है। अत: पहले मोह का त्याग करो अन्यथा व्यर्थ में कठोर तपस्यारूपी बोझा उठाने से कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है।

मात्र भेष/लिंग से कल्याण नहीं

धरियउ बाहिर-लिंगं, परि-हरियउ बाहि-रक्ख-सोॅक्ख हि।
करियउ किरिया-कम्मं मरियउ जम्मियउ बहि-रप्प जीवो ।।६४।।

अन्वयार्थ—(बहि-रप्प जीवो) बहिरात्मा जीव (बाहिर लिंगं) बाह्य लिंग/बाह्यभेष मात्र को (धरियउ) धारणकर (बाहि-रक्ख सोॅक्ख) इन्द्रिय जन्य बाह्य सुख को (हि) भी (परि-हरियउ) छोड़कर (किरिया-कम्मं) क्रियाकांड-व्रताचरण आदि (करियउ) करता हुआ (जम्मियउ मरियउ) जन्म-मरण करता रहता है।

अर्थ—बहिरात्मा जीव बाह्यलिंग/बाह्यभेष, द्रव्य-लिंग-मुनिवेश, आर्यिका वेश, क्षुल्लक-क्षुल्लिका, देश, व्रती, त्यागी आदि नाना भेष धारण कर, संसार के इन्द्रिय सुख को भी छोड़ता है बाह्य क्रियाकांड—घोर बाह्य तप, कठिन व्रताचरण आदि करता हुआ भी जन्म-मरण करता रहता है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन से रहित/आत्मा-अनात्मा के ज्ञान से शून्य जीव बहिरात्मा है। बहिरात्मा जीव ख्याति-पूजा-लाभ व भोगों के निमित्त वर्त्तमान में प्राप्त इन्द्रिय सुखों को छोड़कर बाह्य भेष धारण कर बाह्य क्रियाकांड में रत हो बाह्य तप तपता, व्रतों का आचरण भी करता है फिर भी जन्म-मरण के दुःखों से छूट पाता है—''दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम''। अर्थात् ''सम्यग्दर्शन मूल है''। एक सम्यग्दर्शन के बिना बाह्य भेष, समस्त बाह्य क्रियाकांड/व्रत तप आदि सब निष्फल जानो।

''सम्यक्त्व सहित व्रता-चरण, जगत में इक सार है।
जिनने किया आचरण, उनको नमन सौ-सौ बार है''॥

मिथ्यात्व के नाश बिना मोक्ष नहीं

मोंक्ख-णिमित्तं दुक्खं, वहेइ परलोय-दिट्ठि तणुदंडी।
मिच्छाभाव ण छिज्जइ, किं पावइ मोंक्ख-सोंक्ख हि॥६५॥

अन्वयार्थ—(परलोयदिट्ठि) परलोक पर दृष्टि रखने वाला (तणुदंडी) शरीर को कृश करने वाला/अनेक प्रकार के काय-क्लेश करने वाला बहिरात्मा जीव (मोंक्ख णिमित्तं) मुक्ति के निमित्त (दुक्खं वहेइ) दुःख को सहन करता है; परन्तु (मिच्छाभाव ण छिज्जइ) मिथ्याभाव को/मिथ्यात्व का नाश नहीं करता — तब वह (किं) क्या (हि) निश्चय से/वस्तुतः (मोंक्ख-सोंक्ख) मुक्ति सुख को (पावइ) प्राप्त कर सकता है।

अर्थ—परलोक पर दृष्टि रखने वाले, परलोक के सुखों के अभिलाषी, मात्र शरीर को सुखाने वाले अनेक प्रकार के कायक्लेश वाले बहिरात्मा जीव मुक्ति के सुखों के निमित्त अनेक कष्टों/उपसर्गों परीषहों/दुक्खों को

सहन करते हैं, किन्तु मिथ्यात्व को नहीं छोड़ते हैं/मिथ्यात्व का क्षय नहीं करते हैं। आचार्य देव कहते हैं विचार कीजिये कि क्या मिथ्यात्व को नाश किये बिना वे वास्तव में मुक्ति/मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकेंगे ? कभी नहीं। छहढ़ालाकार दौलतरामजी लिखते हैं—

तीन लोक तिहुँकाल माँहि नहीं, दर्शन सो सुखकारी।
सकल धरम को मूल यही, इसबिन करनी दुखकारी॥

बामी को पीटने से क्या लाभ ?

ण हु दंडइ कोहाइं, देहं दंडेइ कहं खवइ कम्मं।
सप्पो किं मुवइ तहा, वम्मीए मारदे लोए।।६६।।

अन्वयार्थ—बहिरात्मा जीव (कोहाइं) क्रोधादि–क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेषादि को (ण हु दंडइ) दंडित नहीं करता (देहं दंडइ) शरीर को दंडित करता है तो वह (कह) किस प्रकार (कम्मं खवइ) कर्मों को क्षय करेगा/नष्ट कर सकता है (तहा) जैसे (लोए) लोक में (वम्मीए) बामी/साँप के बिल को (मारदे) मारने पर/नाश करने पर (किं) क्या (सप्पो मुवइ) साँप/सर्प मरता है।

अर्थ—बहिरात्मा जीव क्रोध-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्व-राग-द्वेष आदि को तो दंडित नहीं करता अर्थात् इनका त्याग तो नहीं करता मात्र शरीर को ही दंडित करता/सुखाता है। तो इससे वह कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है ? जैसे लोक में बामी को नष्ट करने पर साँप मरता है क्या ?

तात्पर्य यही है कि जैसे लोक में बामी को पीटने या नष्ट करने से सर्प नहीं मरता अत: बामी को पीटने से कोई प्रयोजन नही है। वैसे ही बहिरात्मा जीव क्रोधादि विभाव परिणामों को तो नष्ट नहीं करता मात्र काय-क्लेश आदि करके शरीर को कृश करता है तो इस विधि से कभी भी कर्मों का क्षय नही हो सकता है।

संयमी कौन ?

उवसम-तव-भाव-जुदो, णाणी सो ताव संजदो होइ ।
णाणी कसाय-वसगो, असंजदो होइ सो ताव ।।६७।।

अन्वयार्थ—जो (णाणी) ज्ञानी (उपसम-तव-भाव जुदो) उपशम-तप-भाव से युक्त है (सो) वह (ताव) तब (संजदो) संयमी (होदि) है; (णाणी) ज्ञानी (कसाय-वसगो) जब कषाय के वश हो गया (ताव) तब (सो) वह (असंजदो) असंयत (होइ) होता है ।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—ज्ञानी जब तक उपशम व तप-भाव से युक्त होता है तब तक वह संयमी है । ज्ञानी जब कषाय के वश हो गया तब वह असंयमी होता है ।

आचार्य कहते हैं— ज्ञानी सदा ज्ञानभाव में जीता है । क्रोधादि विभाव परिणामों का निमित्त मिलने पर भी "अहो कर्म वैचित्र्य" का चिंतन करता हुआ, सदा उपशम भाव व तप की साधना में लगा रहता है और तभी तक वह संयमी है । किन्तु जिस समय ज्ञानी अपने ज्ञानभाव से च्युत हो कषायों के वश हो जाता है, संयम-परिणाम उपशम व तप भाव से पतित हो जाता है; तत्काल वह असंयमी हो जाता है । मात्र पठन-पाठन से कोई ज्ञानी या संयमी नहीं बन सकता । उपशम भाव तथा तप भाव में लीनता ही ज्ञानी व संयमी का चिह्न है ।

मात्र ज्ञान कर्म क्षय का हेतु नहीं हो सकता

णाणी खवेइ कम्मं णाण-बलेणेदि बोल्लए अण्णाणी ।
वेज्जो भेसज्ज-महं, जाणे इदि णस्सदे वाही ।।६८।।

अन्वयार्थ—(अण्णाणी) अज्ञानी (इदि) इस प्रकार (बोल्लए) बोलता है कि (णाणी) ज्ञानी (णाण-बलेण) ज्ञान के बल से (कम्मं) कर्मों को (खवेइ) क्षय करता है । (अहं) मैं (भेसज्जं) औषधि को (जाणे) जानता हूँ (इदि) इतना मात्र

कहने से क्या (वेज्जो) वैद्य (वाही) व्याधि को (णस्सदे) नष्ट कर देता है ?

अर्थ—अज्ञानी जीव इस प्रकार कहते हैं कि ज्ञानी मात्र ज्ञान के बल से कर्मों का क्षय करता है। मैं औषधि को जानता इतना कहने मात्र से क्या वैद्य रोग को नष्ट कर देता है ? नहीं।

पूज्य श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में प्रथम सूत्र दिया—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः"।

सूत्र का भाव है— सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग हैं। मात्र दर्शन, मात्र ज्ञान, मात्र चारित्र या दर्शन-ज्ञान, दर्शन-चारित्र, ज्ञान-दर्शन, ज्ञान-चारित्र से कभी मोक्षमार्ग नहीं बनता। आचार्य देव ने सूत्र में "ज्ञान" पद को मध्य दीपक रखा जिसका भाव है मुक्ति का मूल दर्शन व चारित्र हैं तथा ज्ञान का कार्य देहली के दीपक की तरह दर्शन व चारित्र दोनों की रक्षा करना है। छहढालाकार दौलतरामजी ने भी लिखा—

"ज्ञानी के छिन माँहि, त्रिगुप्ति तें सहज टरैं तैं"।

एक विशेषता यह भी है कि ज्ञान का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। क्यों अल्प आठ प्रवचन मातृका का ज्ञान या ग्यारह अंग नौ पूर्व का भी ज्ञान हो। वही ज्ञान सम्यग्दृष्टि के आश्रय को पाकर सम्यक्ज्ञान संज्ञा पा लेता है और मिथ्यादृष्टि का आश्रय पा मिथ्याज्ञान की संज्ञा को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ आचार्य देव का अभिप्राय है कि जैसे एक वैद्य औषधि जानने मात्र से रोगी के रोग का नाश नहीं कर सकता वैसे ही ज्ञानी मात्र ज्ञान के बल से कर्मों का क्षय नहीं कर सकता। जो ज्ञान मात्र से कर्मक्षय होता है, ऐसा बोलते हैं वे अज्ञानी हैं।

मोक्षपथ का पथ्य

पुव्वं सेवइ मिच्छा मल-सोहण-हेउ सम्म भेसज्जं।
पच्छा सेवइ कम्मा-मय-णासण चरिय-भेसज्जं ।।६९।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अन्वयार्थ—(पुव्वं) प्रथमत: (मिच्छा-मल-सोहण-हेउ) मिथ्यात्वरूपी मल के शोधन के कारण (सम्म-भेसज्जं) सम्यक्त्व-रूपी औषधि का (सेवइ) सेवन किया जाता है। (पच्छा) पश्चात् (कम्मा-मय-णासण) कर्म रूपी रोग का नाश करने के लिए (चरिय भेसज्जं) चारित्र रूपी औषधि का (सेवइ) सेवन किया जाता है।

अर्थ—प्रथमत: जीव मिथ्यात्वरूपी मल का शोधन करने के लिए कारणभूत सम्यक्त्वरूपी औषधि का सेवन करे, पश्चात् कर्मरूपी रोग का नाश करने के लिए चारित्ररूपी औषधि का सेवन करें।

यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्वरूपी मल से मलीन हो रहा है उस मल का शोधन करने के लिए सम्यक्त्वरूपी औषधि का सेवन आवश्यक है। जैसे किसी जीव के शरीर में कब्ज के कारण मल इकट्ठा हो जाने पर मलीनतावश उसे जीवन में प्रमाद व आलस्य हो अनेक रोग सताने लगते हैं। तभी औषधि द्वारा उसके मल को निकालकर शुद्धि की जाती है, वह नीरोगता महसूस करता है पर कमजोरी का रोग अभी उसका पीछा पकड़े रहता है। फिर उसे शक्तिदायक स्वर्ण भस्म/मोती पिष्टी आदि देकर नीरोग किया जाता है। ठीक ऐसी ही स्थिति जीव की है। यह जीवात्मा मिथ्यात्वरूपी मल से गंदा/अशुद्ध/मलीन हुआ है। इस मल को निकालने की सर्वश्रेष्ठ औषधि सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के द्वारा मलीनता निकल जाने पर भी चारित्र मोहरूपी कर्म इसे ऐसा पीड़ित करता है, इतना कमजोर बनाये रखता है कि संयम धारण करने नहीं देता। इस कमजोरी/इस कर्म के रोग की औषधि है—चारित्र। चारित्ररूपी औषधि का सेवन करते ही, पूर्ण संयम का आराधक आत्मा परिणामों की विशुद्धि से चार घातिया कर्मों का क्षय कर "अनन्त वीर्य" को प्राप्त कर शाश्वत/अनंत काल के लिए पूर्ण नीरोग अवस्था को प्राप्त करता है।

"यह कर्म को नाश करने का क्रमिक उपाय है।" सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र/कायक्लेश के दारुण दु:खों का सहन करना प्रयोजन सिद्धिकारक नहीं हो सकता।

ज्ञानी और अज्ञानी

अण्णाणीदो विसय-विरत्तादो होइ सय-सहस्स-गुणो ।
णाणी कसाय-विरदो विसयासत्तो जिणुद्दिट्ठं ।।७०।।

अन्वयार्थ—(विसय-विरत्तादो) विषयों से विरक्त (अण्णाणीदो) अज्ञानी की अपेक्षा (विसयासत्तो) विषयों में आसक्त; किन्तु (कसाय-विरदो) कषाय से विरक्त (णाणी) ज्ञानी (सय-सहस्स-गुणो) लाख गुणा फल (होइ) प्राप्त करता है, (जिणुद्दिट्ठं) ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी

अर्थ—पंचेन्द्रिय विषयों से विरक्त अज्ञानी की अपेक्षा पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्त किन्तु कषाय से विरक्त/रहित ज्ञानी जीव लाख गुना फल को प्राप्त करता है। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

यहाँ आचार्य देव का अभिप्राय है कि अज्ञानी-मिथ्यात्व से युक्त है। अपनी दृष्टि को समीचीन नहीं बना पाया है अत: मात्र पंच-इन्द्रिय के विषय-स्पर्श, रसन, गंध, वर्ण और शब्दों में विरक्त होने पर भी बंधक ही है। क्योंकि सम्यक्त्व के अभाव में मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी से युक्त वह अनन्त संसार का बंधक ही है। जबकि पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्त किन्तु मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय से रहित सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी जीव अनन्त संसार का बंधक नहीं होने से अनन्तगुणा फल को प्राप्त करता है।

वैराग्य के बिना भाव

विणओ भत्ति-विहीणो, महिलाणं रोदणं विणा णेहं ।
चागो वेरग्ग विणा, एदेदो वारिआ भणिया ।।७१।।

अन्वयार्थ—(भत्ति–विहीणो) भक्ति रहित (विणओ) विनय (णेहं विणा) स्नेह के बिना (महिलाणं रोदणं) महिलाओं का रोना/रुदन और (वेरग्ग विणा) वैराग्य के बिना (चागो) त्याग (एदेदो) ये सब (वारिआ) निषेध/प्रतिषिद्ध (भणिया) कहे गये हैं।

अर्थ—भीतर में यदि पूज्य पुरुषों के प्रति भक्ति/श्रद्धा नहीं है तो उनके प्रति किया गया विनय कार्यकारी नहीं है। अन्दर में स्नेह के बिना महिलाओं का रुदन व्यर्थ ही है तथा वैराग्य के बिना संसार का त्याग मुक्ति का हेतु नहीं हो सकता। अत: ये तीनों प्रतिषिद्ध ही कहे गये हैं।

भाव शून्य क्रिया से अलाभ

सुहडो सूरत्त विणा, महिला सोहग्ग-रहिद परिसोहा।
वेरग्ग-णाण-संजम हीणा खवणा ण किं पि लब्भंते।।७२।।

अन्वयार्थ—(सूरत्त) शूरता (विणा) बिना (सुहडो) सुभट (सोहग्ग-रहिद) सौभाग्यरहित (महिला) स्त्री/नारी की (परिसोहा) शोभा/शृंगार तथा (वेरग्ग-णाण-संजम) वैराग्य, ज्ञान, संयम (हीणा) रहित (खवणा) क्षपणक/मुनि (किं पि) कुछ भी (ण) नहीं (लब्भंते) प्राप्त करते।

अर्थ—शूरता/वीरता रहित योद्धा/सुभट, सुहाग/सौभाग्य रहित स्त्री का शृंगार/शोभा, वैराग्य-ज्ञान-संयम रहित मुनि कुछ भी प्राप्त नहीं करते। अर्थात् शूर-वीर योद्धा ही युद्ध-क्षेत्र में विजय प्राप्त कर सकेगा, यदि योद्धा वीर नहीं है तो युद्ध-क्षेत्र में पीठ दिखाकर भागेगा या प्राणों को खो देगा। अत: वीरता के अभाव में सुभट कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाता।

''नारी में गुण तीन हैं औगुण भरे हजार।
पुत्र जने सरस रचे करे मंगलाचार''।।

नारी की शोभा सुहाग है। सुहाग रहित स्त्री का शृंगार उत्तम कार्य करके सफलता प्राप्त नहीं करता। वास्तव में वैधव्य प्राप्त होते ही कुलीन स्त्रियों को शृंगार का त्याग कर देना चाहिये। वैधव्य दीक्षा-''सुहाग की वस्तुओं का पूर्ण त्याग कर, श्वेत वस्त्र धारण कर संयम से रहने वाली स्त्रियाँ घर में रहकर भी साध्वी संज्ञा प्राप्त कर लेती हैं''। जबकि वैधव्य अवस्था प्राप्त कर भी जो शृंगार करती हैं वे निंदा को प्राप्त होती हैं तथा कुछ भी प्राप्त नहीं करती हैं।

चार व्यक्ति किसी कार्य के लिए गाँव के बाहर नदी पार कर गंतव्य की ओर जा रहे थे। चारों व्यक्ति रात्रि में नौका में बैठ गये। रात्रि का समय था, नाविक थक चुका था। वह नाव को खूँटा से खोलना भूल गया। रातभर दोनों हाथों से नाव खेता रहा। प्रातः सूर्योदय की शुभ बेला में सोचता है— अब तो किनारा मिलने ही वाला है; पर नजर उठाकर एक दृष्टि दौड़ाई तो पाया नाव जहाँ की तहाँ है। क्योंकि खूँटा से नाव की रस्सी नहीं खोली। नाविक को रातभर मेहनत करके भी कुछ हाथ नहीं लगा। ठीक इसी प्रकार जो कोई मानव मुनि अवस्थारूपी नौका में बैठ गया है। काय-क्लेशरूपी नाविक उस नौका को बुद्धिमानी से खे रहा है किन्तु अनादिकाल से जीवनरूपी नौका ''मोह'' रूपी खूँटा से बँधी थी, उस खूँटा से नहीं खोला और वैराग्य-ज्ञान संयम की पतवार से उसे नहीं खेया तो उस मुनि को उस मुनि अवस्थारूपी नौका से कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। अर्थात् ऐसा मुनि कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं हो सकता। उसका संसार-बंधन नहीं छूट सकता।

अज्ञानी और विषयासक्त जीवों की दशा

वत्थु-समग्गो मूढो, लोही लब्भइ फलं जहा पच्छा।
अण्णाणी जो विसया-सत्तो लहइ तहा चेवं ।।७३।।

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (वत्थु-समग्गो) समस्त पदार्थों से युक्त (मूढ) अज्ञानी (लोही) लोभी (फलं) फल को (पच्छा) बाद में (लब्भइ) प्राप्त करता है (तहा) उसी प्रकार (अण्णाणी) अज्ञानी जो (विसयासत्तो) विषयों में आसक्त है (चेवं लहइ) पीछे ही फल पाता है।

अर्थ—जैसे समस्त पदार्थों से युक्त अज्ञानी, लोभी, फल को बाद में पाता है वैसे ही विषयासक्त अज्ञानी भी पीछे फल पाता है।

यहाँ आचार्य देव का यह भाव है कि मूर्ख, अज्ञानी समस्त पदार्थों के रहते हुए भी उसका फल बाद में पाता है। क्योंकि यदि मूर्ख लोभी को

सौंभाग्य से बहुत सी सम्पत्ति मिल जावे तो उससे पराये लोग ही चैन से उड़ाते हैं; किन्तु उसके बन्धु-बान्धव और वह तो भूखों ही मरते रहते हैं। स्वयं सुख नहीं भोग पाता—

"सकल पदारथ हैं घर माँहि।
लोभी नर वह भोगत नाहिं" ॥

वैसे ही विषयासक्त अज्ञानी भी जीवन में कभी सुख भोग नहीं पाता। क्योंकि विषयासक्त हो चार बातों से कभी छुटकारा नहीं मिला—१. घृणा, २. पाप, ३. भ्रम और ४. कलंक। विषयासक्त अज्ञानी सम्मानित परिवार को नष्ट करता है और कलंकित लोगों की श्रेणी में जा बैठता है। सुख-समृद्धि, ईर्ष्या करने वालों के नहीं है, ठीक इसी तरह गौरव भी विषयासक्त अज्ञानी के लिए नहीं है। मात्र अपकीर्ति और अपमान ही उसके भाग्य में रह जाते हैं।

फल को कौन प्राप्त करता है ?

वत्थु समग्गो णाणी, सुपात्त-दाणी जहा फल लहइ।
णाण-समग्गो विसय-परिचत्तो लहइ तहा चेव ।।७४।।

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (वत्थु-समग्गो) समस्त पदार्थों की समग्रता/युक्तता सहित (सुपात्त-दाणी) सुपात्रों को दान देने वाला (णाणी) ज्ञानी (फलं) फल को (लहइ) पाता है (तहा चेव) वैसे ही (विसय-परिचत्तो) विषयों का त्यागी (णाण-समग्गो) ज्ञान से युक्त ज्ञानी (लहइ) फल को पाता है।

अर्थ—जिस प्रकार सभी प्रकार पदार्थों की युक्तता सहित सुपात्र को दान देने वाला ज्ञानी फल को प्राप्त करता है, उसी प्रकार विषयों का त्यागी ज्ञान से युक्त ज्ञानी फल को पाता है।

पूर्व पुण्योदय से संसार में समस्त साधन उपलब्ध होने पर सुपात्रों में दान देने वाला ज्ञानी ही दान के फल को पा लेता है। तिरुक्कुरल ग्रंथ में आचार्य देव लिखते हैं—दान लेना बुरा है, चाहे उससे स्वर्ग ही क्यों न

मिलता हो और दान देने वाले के लिए चाहे स्वर्ग का द्वार भी क्यों न बन्द हो जाय फिर भी सुपात्रों में दान देना धर्म है। सुपात्र में दान देने वाला ज्ञानी कहा गया, क्योंकि वह सुपात्र-कुपात्र को अच्छी तरह जानकर दान देता है तथा वह धन की दान-भोग व नाश तीन गतियों से भी परिचित है। ज्ञानी सुपात्र दान में ही दान करता है, अज्ञानी ख्याति-पूजा-लाभ की भावना से पात्र-अपात्र सब में यद्वा-तद्वा दान करता है। ज्ञानी दान के फल को प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार विषयासक्त होकर जो अपने को ज्ञानी संज्ञा से मंडित करता है वह संसार बढ़ाता है, जबकि विषयों का त्यागी, ज्ञानी ज्ञान का फल चारित्र धारण कर, आराधना की साधना से साध्य को सिद्ध कर मुक्ति पाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समकित-ज्ञान-वैराग्य औषधि

भू-महिला-कणयाइ-लोहाहि विसहरं कहं पि हवे।
सम्मत्त-णाण-वेरग्गो-सह-मंतेण जिणुद्दिट्ठं ।।७५।।

अन्वयार्थ—(भू) पृथ्वी/भूमि (महिला) स्त्री (कणयाइ) स्वर्ण आदि के (लोहाहि) लोभरूपी सर्प और (विसहरं) विषधर सर्प को (कहं पि हवे) वह सर्प चाहे कैसा भी हो (सम्मत्त-णाण-वेरग्गो-सह मंतेण) सम्यक्त्व-ज्ञान-वैराग्य रूपी औषधि और मंत्र से वश में किया जा सकता है। (जिणुद्दिट्ठं) ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अर्थ—भूमि-स्त्री-स्वर्ण आदि के लोभरूपी सर्प और भयानक विषधर सर्प भी वह कैसा भी क्यों न हो, सम्यक्त्व-ज्ञान और वैराग्यरूपी औषधि व मंत्र से वश में किया जा सकता है। अर्थात् संसार में जितना युद्ध/झगड़ा है वह जड़, जोरू और जमीन का है। इन तीन का आसक्त जीव लोभरूपी सर्प से डसा जाकर एक नहीं अनेकों भव बिगाड़ लेता है जबकि महाविषधर के डस जाने पर उसका एक ही भाव बिगड़ता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य

मिथ्यादृष्टि जीव को जड़-जोरू-जमीनरूपी तीन-तीन सर्प डसते रहते हैं। उसके विष को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और वैराग्य की औषधि और मंत्र से लीला मात्र में दूर किया जा सकता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि की पर-पदार्थों में आसक्ति समाप्त हो जाती है सम्यग्ज्ञानी को "पर पदार्थ, पर भासता है", "स्व पदार्थ, स्व" अत: भेद-विज्ञान होते ही पर द्रव्य में ममत्व छूट जाता है। वैरागी/चारित्रवान की आवश्यकता भी घट जाती है। अनासक्ति, भेदविज्ञान और अनावश्यकता तीन औषधियाँ सम्यग्दृष्टि ज्ञानी वैरागी के पास रहती हैं तथा रत्नत्रय का मंत्र। बस ! अब तो बड़े-बड़े लोभरूपी सर्प व विषधर इनके सामने भी आ नहीं पाते।

मुनिदीक्षा के पूर्व १० का मुंडन आवश्यक

पुव्वं जो पंचिंदिय, तणु-मण-वचि-हत्थ-पाय मुंडाओ।
पच्छा सिर मुंडाओ, सिव-गइ-पहणायगो होइ ।।७६।।

अन्वयार्थ—(जो) जो मनुष्य (पुव्वं) पहले (पंचिंदिय) पाँचों इन्द्रियों (तणु-मण-वचि-हत्थ-पाय) शरीर-मन-वचन-हाथ और पाँव को (मुंडाओ) मूँडता है / वश में करता है (पच्छा) पश्चात् (सिर मुंडाओ) सिर मुँडाता है [केशों का लुंचन करता है] –वह (सिव-गइ) मोक्ष गति/मोक्षमार्ग का (पहणायगो) प्रधान/ नेता (होइ) होता है।

अर्थ—जो मनुष्य प्रथम स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु-कर्ण इन्द्रियों को वश करता है, शरीर को, मन, वचन, हाथ, पाँव को वश करता है, इसके बाद केशलोंच करता है वही मुक्तिमार्ग का प्रधान नेता होता है। अर्थात् मुनि दीक्षा के पूर्व ५ इन्द्रिय+मन+वचन+शरीर+हाथ+पाँव =१० का मुंडन आवश्यक है।

"चित्रं जैनेश्वरी दीक्षा स्वैराचार विरोधिनी" मानव को मुक्ति-मार्ग का नेता बनने या मुक्ति पथ पर चलने के लिए सर्वप्रथम अखंड ब्रह्मचर्य या स्वदार संतोषव्रत को धारण कर स्पर्शन इन्द्रिय, अभक्ष्य पदार्थों के सेवन का त्याग कर रसना इन्द्रिय, इत्र-सेंट आदि सुगंधित वस्तुओं के उपभोग

का त्याग कर घ्राण इन्द्रिय, टी.वी., सिनेमा, अश्लील चित्रों को देखने का त्याग कर चक्षु इन्द्रिय और अश्लील गीतों को सुनने का त्याग कर कर्णेन्द्रिय को वश करना चाहिये क्योंकि

अलि-पतंग-मृग-मीन-गज, याके एक ही आँच।
तुलसी बाकी का गति-जाके पीछे पाँच।।

फिर नाना प्रकार के आसन आदि लगाने का अभ्यास कर शरीर को, ध्यान की साधना या मनोगुप्ति से मन को, भाषा समिति या मौन की साधना से वचन को, प्रयोजन के बिना यत्र-तत्र भ्रमण प्रमादचर्या, अनर्थदंड का त्यागरूप अनर्थदंड व्रत को धारण कर हाथ-पाँव को वश करने के बाद सिर मुँडाना चाहिये। पूर्व में वश करने योग्य को वश न कर जो एक मात्र सिर को मुँडाता है वह मोक्ष-मार्ग को नहीं प्राप्त हो सकता। फिर वही होगा—

मुंड मुडाये तीन गुण, सिर की मिट गई खाज।
खाने को लड्डू मिलें लोग कहे महाराज।

लोक में और भी कहा है—

मुँड-मुंडाय रखाय जटा सिर, राख रमाय बने ब्रह्मचारी।
धर्म-अधर्म को घूँट पिये, ममता-मद-मोह-माया न बिसारी।
बैठ रहे पट दे मठ भीतर, साधके मौन लगायके तारी।
ऐसे भये तो कहा तुलसी, जिन आसन मार के आश न मारी।

भक्ति बिना सब शून्य

पदिभत्ति-विहीण सदी, भिच्चो जिण-समय-भत्ति-हीण जण्णो[1] ।
गुरु-भत्ति-हीण सिस्सो, दुग्गदि-मग्गाणु-लग्गओ णियदं ।।७७।।

अन्वयार्थ—(पदिभत्ति–विहीण) स्वामी भक्ति से रहित (सदी) सती और (भिच्चो) भृत्य/नौकर (जिण-समय-भत्ति हीण) जिनेन्द्र देव-जिनागम/शास्त्र की भक्ति से रहित (जण्णो) जैन; (गुरु-भत्ति-हीण सिस्सो) गुरु भक्ति से रहित शिष्य ये (णियदं) नियम से (दुग्गदि) दुर्गति के (मग्गाणु-लग्गओ) मार्ग में संलग्न हैं।

१– जइणो [ब. प्रति] पाठ भी है।

अर्थ—स्वामीभक्ति से रहित सती व नौकर/भृत्य जिनेन्द्र देव व शास्त्र की भक्ति से रहित जैन तथा गुरु भक्ति से विहीन शिष्य नियम से दुर्गति के मार्ग में लगे हुए हैं ऐसा जानना चाहिये।

लोक में कहा जाता है—

कुत्ता जिसका खाता है, उसका बजाता है।
आदमी जिसका खाता है, उसी को काटता है॥

ऐसे स्वामी भक्ति रहित भृत्य दुर्गति के ही पात्र समझना चाहिये। "जिनो यस्य देवता स: जैन" जिनेन्द्र देव जिसके देव हैं तथा उनके मुखारविन्द से निकली देशना जिसके शास्त्र हैं, ऐसे वीतराग प्रभु व उनकी वाणी पर जिसे भक्ति/श्रद्धा नहीं वह जैन नहीं कहला सकता।

"गुरु भक्ति रहित शिष्य" के लिये नीतिकारों ने कहा—

कबीरा के नर अंध हैं, जो गुरु को कहते और।
हरि रुठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहीं ठौर॥

"गुरु, गुरु ही रहते हैं" अत: गुरु-भक्ति से मुख मोड़ने वाला शिष्य कुमार्गगामी हो जाता है।

गुरु से कपट मित्र से चोरी।
के होय निर्धन, के होय कोढ़ी॥

गुरु-भक्ति रहित शिष्य का चारित्र निष्फल है

गुरु-भत्ति-विहीणाणं सिस्साणं सव्व-संग-विरदाणं।
ऊसर-खेत्ते ववियं सुवीय-समं जाण-सव्वणुट्ठाणं॥७८॥

अन्वयार्थ—(सव्व-संग-विरदाणं) सब परिग्रहों से रहित; किन्तु (गुरु भत्ति विहीणाणं) गुरु-भक्ति से विहीन (सिस्साणं) शिष्यों के (सव्वणुट्ठाणं) सभी अनुष्ठान-जप-तप व्रत आदि (ऊसर-खेत्ते) ऊसर भूमि में (ववियं) बोये गये (सुवीय समं) उत्तम बीज के समान (जाण) जानो।

अर्थ—जो कोई शिष्य समस्त परिग्रहों से रहित है, सभी प्रकार के जप व दुर्धर तप व्रतादि भी करता है; किन्तु यदि वह गुरु-भक्ति से विहीन है, गुरु-आज्ञा के अनुकूल नहीं है, गुरु के वचनों में श्रद्धा रहित है, तो उसका समस्त त्याग, व्रत, तप, अनुष्ठान आदि ऊसर भूमि में बोय गये उत्तम बीज के समान जानना चाहिये। अर्थात् जैसे ऊसर भूमि में बोया उत्तम बीज फलदायी नहीं/व्यर्थ होता वैसे ही गुरु-भक्ति से रहित शिष्य का त्याग-जप-तप-व्रत आदि सब व्यर्थ ही जानना चाहिये।

र्मदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हे भव्यात्माओ ! ''गुरु-भक्ति सति मुक्त्यै'' गुरु-भक्ति मुक्तिदायिनी कल्पलता है। गुरु की प्राप्ति ही कठिन है—

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
शीश दिये जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान॥

गुरु-भक्ति में समर्पण की भावना सन्निहित हो तभी शिष्य अमरफल को प्राप्त कर सकता है। जो जीवन में योग्य शिष्य नहीं बन पाया वह कभी योग्य गुरु भी नहीं पायेगा। अतः योग्य शिष्य बनकर शिष्य को गुरु-भक्ति में जीवन समर्पित कर देना ही सत्यता है।

गुरु-भक्ति रहित शिष्य का व्रतादि निष्फल है

रज्जं पहाण हीणं, पदिहीणं देस-गाम-रट्ठ बलं।
गुरुभत्ति-हीण सिस्सा-णुट्ठाणं णस्सदे सव्वं ।।७१।।

अन्वयार्थ—(पहाण हीणं) प्रधान/राजा से हीन (रज्जं) राज्य (पदिहीणं) स्वामी से विहीन देश-ग्राम-राष्ट्र-सैन्यबल और (गुरुभक्ति हीण) गुरु-भक्ति से विहीन (सिस्सा) शिष्य के (सव्वं) सभी (अणुट्ठाणं) अनुष्ठान (णस्सदे) नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

अर्थ—जिस प्रकार राजा से विहीन राज्य और स्वामी के बिना देश-राष्ट्र-ग्राम सैन्यबल आदि सारी विभूतियाँ निरूपयोगी/व्यर्थ हैं, नाश को प्राप्त होने वाले हैं उसी प्रकार गुरु-भक्ति से विहीन शिष्य के समस्त अनुष्ठान नष्ट हुए जानो।

पं० आशाधरजी लिखते हैं—कल्याण के इच्छुक शिष्यों को प्रतिदिन हमेशा ही गुरुओं की उपासना, सेवा-भक्ति करनी चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार गरुड़ पक्षी जिसके पास है उसके पास सर्प नहीं आते। उसे विषधर सर्प भी नही काट पाते, उसी प्रकार गुरुभक्तिरूपी गरुड़ (गारुड़ मणि) जिसके हृदय में है उनको धर्मानुष्ठान में आने वाले विघ्नरूपी सर्प काट नहीं सकते। इसके विपरीत जो गुरु के साथ ऊपरी विनय भक्ति दिखाते हैं उनके समस्त अनुष्ठान नाश को ही प्राप्त होत हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कारण बिना कार्य नहीं

सम्माण विणा रुइ भत्ति-विणा-दाणं दया विणा धम्मो।
गुरु भत्ति विणा तव-गुण-चारित्तं णिप्फलं जाण ।।८०।।

अन्वयार्थ—(सम्माण) सम्मान/आदर/सत्कार भाव के (विणा) बिना (रुइ) रुचि/प्रेम (भत्ति-विणा-दाणं) भक्ति के बिना दान (दया विणा धम्मो) दया के बिना धर्म तथा (गुरु भत्ति विणा) गुरु भक्ति के बिना (तव-गुण-चारित्तं) तप-गुण-चारित्र को (णिप्फलं जाण) निष्फल जानो।

अर्थ—हे भव्यात्माओं! जिस प्रकार आदर भाव के बिना प्रेम, भक्ति के बिना दिया गया दान और दया के बिना धर्म निष्फल हैं/निस्सार हैं, उसी प्रकार गुरु-भक्ति के बिना तप-गुण और चारित्र को भी निस्सार जानो।

गुरु की भक्ति में शिष्य का मन नहीं है तो समझना चाहिये कि शिष्य के मन में गुरु-भक्ति के अलावा ख्याति-पूजा लौकिक सुखों को प्राप्त करने की तृष्णा बनी हुई है। शिष्यत्व का सबसे बड़ा गुण है–"निःस्वार्थ"। जो शिष्य गुरु के उपकारों को भूल गया, उनकी सेवा-भक्ति से दूर हो गया, समझ लो पृथ्वी पर उससे बड़ा कृतघ्नी और कोई नहीं। वादीभसिंह आचार्य लिखते हैं—

गुरु द्रुहां गुणः को वा कृतघ्नानां न नश्यति।
विद्यापि विद्युदाभा स्याद-मूलस्य कुतो स्थितिः।।

गुरुओं के उपकार को भूलकर, उनकी भक्ति से विहीन शिष्य के समस्त गुणों पर पानी फिर जाता है। कृतघ्नता से दूषित उसके गुरु-भक्ति रूपी जड़ के बिना विद्या आदि समस्त गुण बिजली के समान क्षण मात्र में नष्ट हो जाते हैं।

हेय–उपादेय ?

हीणा-दाण[1]-वियार-विहीणादो बाहि-रक्ख सोॅक्खं हि ।
किं तजियं किं भजियं, किं मोॅक्खं ण दिट्ठ जिणुद्दिट्ठं ।।८१।।

अन्वयार्थ—(जिणुद्दिट्ठं) जिनेन्द्र देव ने कहा [यह जीव] (हीणा-दाण-वियार-विहीणादो) निन्द्य और ग्राह्य के विचार से विहीन होने से (हि) निश्चय से (बहि-रक्ख सोॅक्ख) बाह्य इन्द्रिय सुख को ही सुख मानता है (किं तजियं) त्यागने योग्य क्या है ? (किं भजियं) उपादेय क्या है ? (किं मोक्खं) मोक्ष क्या है उसे (ण दिट्ठं) नहीं देखता/जानता।

अर्थ—यहाँ जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि अनादिकालीन मोह बुद्धि के संस्कार से गाढ़ अज्ञानांधकार में फँसा हेयोपादेय बुद्धि/विवेक से रहित जीव-निन्द्य क्या है ? ग्राह्य/ग्रहण के योग्य क्या है ? नहीं जानता हुआ, विचारों से विहीन होने से बाह्य इन्द्रिय सुखों को ही सच्चा सुख मानता है। छोड़ने योग्य क्या है ? उपादेय क्या है ? मोक्ष क्या है ? उसे वह जानता भी नहीं और देखता भी नहीं। क्षत्रचूड़ामणि ग्रंथ में आचार्य देव लिखते हैं—

हेयापादेय विज्ञानं नो चेद् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ।
किं ब्रीहि खण्डनायासै-स्तण्डला-मसम्भवे ।।४४।। क्ष.चू०

यदि हेय-उपादेय/कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक नहीं तो शास्त्र में परिश्रम करना व्यर्थ है; क्योंकि चावलों के असंभव होने पर धान्य के कूटने के परिश्रमों से क्या लाभ हो सकता है ?

१– [हाणा दाण भी पाठ है] प्र. ब.

बाह्यतप माहात्म्य

काय-किलेसुववास दुद्धर-तव-यरण-कारणं जाण ।
तं णिय-सुद्धप्प-रुई, परिपुण्णं चेदि कम्म-णिम्मूलं ।।८२।।

अन्वयार्थ—(काय-किलेसुववास) कायक्लेश व उपवास (दुद्धर-तव-यरण-कारणं) कठोर तपश्चरण के कारण (जाण) जानो (तं) वे ही काय-क्लेश व उपवास (णिय-सुद्धप्प-रुई) अपने शुद्ध आत्मा की रुचि होने पर (परिपुण्णं) समस्त (कम्म-णिम्मूलं) कर्मों के क्षय के कारण होते हैं (चेदि) ऐसा जानो ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—काय-कलेश और उपवास कठोर तपश्चरण के कारण होते हैं ऐसा जानो और अपने शुद्ध आत्म-तत्त्व की रुचि होने पर वे कायक्लेश-उपवासादि समस्त कर्मों के क्षय के कारण होते हैं।

द्रव्यदृष्टि से निज शुद्धात्मा ही एकमात्र उपादेय है। जब तक अपने शुद्ध आत्मा की ओर रुचि नहीं है, शुद्ध आत्मा की प्रतीति नहीं है, शुद्ध आत्मा की ओर लक्ष्य नहीं है तब तक काय-क्लेश, उपवास आदि बाह्य तप कर्मों का निर्मूल क्षय करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं।

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयण मौण पहुदि समदा रहियस्स साहुस्स ।।

आत्मा का स्वभाव समता रस से पूर्ण है। उस अपने आत्म स्वभाव की रुचि/प्रतीति के बिना वन में निवास, विचित्र-विचित्र प्रकार का काय-क्लेश, उपवास, अध्ययन, मौन की साधना आदि क्या कर सकता है, कुछ नहीं। अर्थात् जो जीव आत्म स्वभाव से विपरीत है, मात्र बाह्य कर्म उसका क्या कर देगा ? नाना प्रकार का उपवास आदि उसके कर्मों का क्षय कभी भी नहीं कर पायेगा। पूज्यपाद स्वामी भी इसी बात को कहते हुए लिखते हैं—जो जीव आत्मा अनात्मा के स्वरूप को देह से भिन्न आत्मा की अखंडता को नहीं जानता है वह घोर तप को करता हुआ भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता।

हे भव्यात्माओं ! यदि कर्मों का समूल क्षय करने की भावना है तो निज शुद्धात्मा की रुचि करो।

मात्र बाह्य लिंग कर्म क्षय का हेतु नहीं

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कम्मं ण खवेइ जो परब्रह्म[1] ण जाणेइ सम्म-उम्मुक्को।
अत्थ ण तत्थ ण जीवो, लिंगं घेत्तूण किं करेइ ।।८३।।

अन्वयार्थ—(जो) जो (परब्रह्म) आत्मा परमात्मा को (ण जाणे इ) नहीं जानता है (सम्म उम्मुक्को) वह सम्यक्त्व से रहित है (कम्मं) कर्मों का (ण खवेइ) क्षय नहीं करता (जीवो) ऐसा जीव (अत्थ–ण तत्थ–ण) न यहाँ का है और न वहाँ का (लिंगं) मात्र लिंग को (घेत्तूण) ग्रहण करके (किं) क्या (करेइ) करता है ?

अर्थ—जो लिंग धारण करके भी आत्मा-परमात्मा को नहीं जानता है वह सम्यक्त्व से विहीन है। कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं है। ऐसा जीव न यहाँ का है न वहाँ का अर्थात् न वह गृहस्थ रहा न साधु रहा। वह लिंग मात्र ग्रहण करके क्या कर सकता है।

जो जीव लिंग धारण करके भी आत्मा परमात्मा के भेद को नहीं जानता है, वह सम्यग्दर्शन से च्युत है। सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य अच्छी तरह कठिन तपश्चरण करते हुए हजार करोड़ वर्षों में भी रत्नत्रय स्वरूप बोधि का अर्जन नहीं प्राप्त कर सकते। आचार्य देव कुन्दकुन्द स्वामी अपने ही प्रसिद्ध ग्रन्थ दर्शनप्राभृत में इसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

जे दंसणेसु भट्ठा, णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठविभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ।।८।। द.प्रा.

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वे ज्ञान से भ्रष्ट हैं और चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्टों में विशिष्ट भ्रष्ट हैं, अर्थात् अत्यंत भ्रष्ट हैं तथा अन्य मनुष्यों को भी भ्रष्ट कर देते हैं। अतः ऐसा जीव लिंग धारण करके भी

१: बह्म पाठ भी है [ब] प्रति।

कर्मों का क्षय करने में सक्षम नहीं हो सकता। वह तो ''यतो भ्रष्टा ततो भ्रष्टा'' यहाँ का रहा न वहाँ का। वह न गृहस्थ रहा न त्यागी तो फिर कर्म-क्षय कैसे कर सकेगा ? कभी भी नहीं।

आत्मज्ञान बिना बाह्य लिंग क्या कर सकता है

अप्पाणं पि ण पेंच्छइ, ण मुणइ ण वि सद्दहइ ण भावेइ।
बहु-दुक्ख-भार-मूलं लिंगं घेत्तूण किं करेइ ।।८४।।

अन्वयार्थ—जो साधु (अप्पाणं) आत्मा को (पि ण पेंच्छइ) नहीं देखता है (ण मुणइ) न उसका मनन करता है (ण वि सद्दहइ) न ही आत्मा की श्रद्धा करता है (ण) न ही आत्मा की भावना ही करता है वह (बहु-दुक्ख-भार-मूलं) अत्यन्त/बहुल दुख के भार के कारण (लिंगं घेत्तूण) बाह्य भेष मात्र धारण करके (किं करेइ) क्या करता है ?

अर्थ—जो बाह्य लिंग/मुनिभेष धारण करके भी आत्मा को नहीं देखता, आत्मा का मनन नहीं करता, आत्मा का श्रद्धान नहीं करता और आत्मा की भावना भी नहीं करता है वह अत्यंत दुख का मूल कारण ऐसे बाह्य भेष को धारण करके भी क्या करता है ?

यहाँ आचार्य देव का तात्पर्य है कि निजात्मा का ज्ञान श्रद्धा-भावना-मनन नहीं है तो लिंग धारण करके भी अनन्त संसार में परिभ्रमण ही करना होगा—

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसार सायरे भमई।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ।।६८।।

जिनभावना अर्थात् सम्यक्त्व परिणाम, निजात्म तत्त्व की श्रद्धा, रुचि प्रतीति। उससे रहित नग्न पुरुष नरक, तिर्यंच, कुमनुष्य और कुदेवों में छेदन, भेदन, सूलारोहण, आदि तथा शारीरिक, मानसिक व आगन्तुक अनेक दुःखों को प्राप्त करता है। निजात्म भावना से रहित नग्न मनुष्य संसार-सागर में परिभ्रमण करता है तथा उसी में मज्जन-उन्मज्जन करता है तथा चिरकाल तक रत्नत्रय को प्राप्त नहीं होता है।

अर्थात् मात्र वस्त्रादि बाह्य पदार्थों के त्याग से श्रमणपना नहीं होता उसके साथ भावशुद्धि भी आवश्यक है; तभी कर्मों के क्षय में बाह्य लिंग का महत्वकारी योगदान सिद्ध होगा। अन्यथा सब व्यर्थ ही है, एकमात्र आडंबर।

आत्मा की भावना बिना दुख ही है

जाव ण जाणइ अप्पा, अप्पाणं दुक्ख-मप्पणो ताव।
तेण अणंत-सुहाणं, अप्पाणं भावए जोई ॥८५॥

अन्वयार्थ—(जाव) जब तक (अप्पा) आत्मा (अप्पाणं) आत्मा को (ण) नहीं (जाणइ) जानता (ताव) तब तक (अप्पणो) आत्मा को (दुक्खं) दुःख है (तेण) इसलिये (जोई) योगी (अणंत-सुहाणं) अनंत-सुख स्वभावी (अप्पाणं) आत्मा की (भावए) भावना करे।

अर्थ—जब तक आत्मा आत्मा को नहीं जानता तब तक आत्मा को दुःख है, इसलिये योगी अनंत सुख स्वभावी आत्मा की भावना करें।

आचार्य देव कहते हैं, हे सद्बोध से पराङ्मुख मूढ़ मानव ! अपने शरीर स्थित ईश्वर रूप निजात्मा का स्मरण करो। यदि ऐसा न करोगे तो संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। फिर मूर्खों के मूर्ख शिरोमणि कहलाओगे तथा दुखों को प्राप्त होओगे। अत:

अयि कथमपि मृत्वा, तत्त्व कौतूहली सन्।
अनुभव भव मूर्तेः, तत्त्व पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्॥
पृथगथ विलन्त विलसन्त स्वं समालोक्य येन।
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥

हे योगी ! तुम किसी प्रकार मरकर भी/कष्टों को भी प्राप्त कर आत्मतत्त्व के जिज्ञासु होओ। शरीरादि मूर्तद्रव्य का एक मुहूर्त के लिए पड़ौसी बनकर आत्मा की भावना करो। आत्मानुभव करो। दुख का कारण शरीरादि पर-द्रव्य के प्रति मोह का त्याग कर, परद्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा के स्वरूप की बार-बार भावना करो। मैं कौन हूँ ? इसी का ज्ञान करो—

परमानन्दी शुद्धस्वरूपी अविनाशी मैं आत्मा हूँ।
सहजानंदी शुद्धस्वरूपी अविनाशी मैं आत्मा हूँ।।

मेरा आत्मा एक है, निश्चय से शुद्ध है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप है सदा अवरूपी है, परमाणु-मात्र भी कोई पदार्थ मेरा नहीं। एकमात्र मेरा आत्म द्रव्य ही मेरा स्वतत्त्व है। उसी को जानता हूँ, देखता हूँ बस यही भावना करो। दुखों के नाश का एकमात्र यही उपाय है।

सम्यक्त्व से निर्वाण-प्राप्ति

णिय-तच्चुव-लद्धि विणा, सम्म-त्तुव-लद्धि णत्थि णियमेण।
सम्मत्तुव-लद्धि विणा, णिव्वाणं णत्थि णियमेण।।८६।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अन्वयार्थ—(णिय-तच्चुव-लद्धि विणा) निज आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के बिना (णियमेण) नियम से (सम्म-त्तुव-लद्धि) सम्यक्त्व की प्राप्ति (णत्थि) नहीं होती (सम्मत्तुव-लद्धि विणा) सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना (णियमेण) नियम से (णिव्वाणं) निर्वाण (णत्थि) नहीं है।

अर्थ—निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति के बिना नियम से सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। सम्यक्त्व की उपलब्धि के बिना नियम से निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती।

हे भव्यात्माओं ! इस जड़ शरीर में आत्मबुद्धि का होना आत्मस्वरूप की प्राप्ति का बाधक है। अत: शरीर में आत्मत्व की मिथ्या कल्पना को छोड़कर बाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकते हुए अन्तरंग आत्मा में प्रवेश करो। आत्मस्वरूप की प्राप्ति करो।

स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादिक विषय बाह्य वचन व्यापार को और मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, शिष्य हूँ गुरु हूँ आदि अन्तरंग जल्प को भी हटाकर, चित्त की एकाग्रता कर आत्मस्वरूप की प्राप्ति करो। क्योंकि आत्मस्वरूप की प्राप्ति के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं और और सम्यक्त्व के बिना सम्यग्चारित्र

की उपलब्धि नहीं तथा सम्यग्चारित्र के बिना निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। पूज्यपाद स्वामी आत्मतत्त्व की प्राप्ति का उपाय बताते हुए लिखते हैं—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥ स.श.

हे आत्मन! विचार करो कि—"जो जानने वाला चैतन्य द्रव्य है वह तो मुझे दिखाई नहीं देता और जो इन्द्रियों के द्वारा रूपी जड़ पदार्थ दिखाई दे रहे हैं वे सब चेतना रहित है, वे कुछ भी नहीं जानते, अब मैं किसके बात करूँ, किसी से भी वार्तालाप करना बनता नहीं। अतः मुझे अब चुपचाप [मौनयुक्त हो] हो आत्मतत्त्व की प्राप्ति का उपाय करना ही सार्थक है।

ज्ञानविहीन तप की शोभा नहीं

साल-विहीणो-राओ, दाण-दया-धम्म-रहिय गिह सोहा।
णाण-विहीण तवो वि य, जीव देह विणा सोहा ण ॥८७॥

अन्वयार्थ—(साल-विहीणो राओ) दुर्ग के बिना राजा की (दाण-दया- धम्म-रहिय) दान, दया, धर्म से विहीन (गिह सोहा) गृहस्थ की शोभा (य) और (जीव विणा) जीव के बिना (देह सोहा) शरीर की शोभा (ण) नहीं है वैसे ही (णाण विहीण) ज्ञानविहीन (तवो वि) तप की भी शोभा नहीं है।

अर्थ—जैसे दुर्ग/किला के बिना राजा की, दान-दया-धर्म रहित गृहस्थ की कोई शोभा नहीं, जीव के बिना शरीर की कोई शोभा नहीं है वैसे ही ज्ञानरहित तप की भी कोई शोभा नहीं होती।

"ज्ञान समान न आन, जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृत्यु रोग निवारण॥
तातैं जिनवर तत्त्व कथित अभ्यास करीजे।
संशय विभ्रम मोह त्याग आपो लख लीजे॥

आचार्य देव कहते है—संसार में ज्ञान के समान अन्य कोई सुख का

कारण नहीं है अतः संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित समीचीन ज्ञान के द्वारा आत्मतत्त्व को पहिचानो।

जो निर्ग्रन्थ साधु भी हो गया, बाह्य परिग्रह को भी छोड़ चुका है; किन्तु जिसने मिथ्यात्व को नहीं छोड़ा है उसके कायोत्सर्ग, मौन व बहुत प्रकार के तप भी शोभा को प्राप्त नहीं होते। अज्ञानी तप आदि करके भी कषाय व संक्लेश परिणामो से परिणत हुआ नवीन कर्मों का बंध करता है और ज्ञानी राग-द्वेष और कषाय रूप कर्मों का उदय होने पर भी उन रूप परिणमन न कर रत्नत्रय की सिद्धि करता है, शोभा को प्राप्त करता है अतः कहा है—

कोटि जनम तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिनमाँहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते ॥४॥

साधु के पास परिग्रह दुख का कारण

मक्खी सिलिम्मि पडिओ, मुवइ जहा तह परिग्गहे पडिउ।
लोही मूढो खवणो, काय-किलेसेसु अण्णाणी ॥८८॥

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (मक्खी) मक्खी (सिलिम्मी) श्लेष्मा में (पडिओ) गिरि हुई (मुवइ) मर जाती है (तह) वैसे ही (परिग्गहे पडिउ) परिग्रह में पड़ा हुआ (लोही) लोभी (मूढो) मूर्ख (अण्णाणी) अज्ञानी (खवणो) साधु (काय-किलेसेसु) काय-क्लेश में मरता है।

अर्थ—जैसे मक्खी श्लेष्मा/कफ में गिरि हुई मृत्यु को प्राप्त होती है वैसे ही परिग्रहरूपी श्लेष्मा में पड़ा हुआ लोभी, मूर्ख, अज्ञानी साधु मात्र काय-क्लेश में मरता है।

मक्खी नासिका मल/श्लेष्मा में लोभवश गिरती है वहाँ से निकलने के लिए फड़फड़ाती है पंखों को फैला कर निकलने का प्रयत्न करती है बार-बार पुरुषार्थ करने पर भी आर्त्तध्यान से वहीं मरकर प्राणों की आहुति दे देती है। इसी प्रकार जो साधु भेष धारण कर परिग्रहरूपी श्लेष्मा में गिर

जाता है, परिग्रह संचय करता है, परिग्रह को इकट्ठा करने में अपने को बड़ा समझता है वह लोभी, अज्ञानी साधु अनेक प्रकार के काय-क्लेश करता हुआ आर्त्तध्यान में मरता है, संसार से तिर नहीं पाता। आचार्य देव कहते हैं—हे साधो! शरीर बाह्य कारण की अपेक्षा सभी जीव नग्न हैं, नारकी और तिर्यंच तो समुदाय रूप से नग्न हैं परन्तु भावों में अशुद्धता है। भावों की विशुद्धि के बिना मात्र नग्नता कार्यकारी नहीं है। जिस प्रकार इक्षु का 'फूल', फल रहित और निर्गन्ध होने से निर्गुण होता है उसी प्रकार जो मुनि परिग्रह से घिरा है वह मूर्ख है, लोभी है मोक्षरूपी फल से रहित है, निर्गुण ज्ञान हीन होता है अर्थात् वह नग्नवेषी नट (बहुरूपिया) श्रमण है [अ.पा. ४०१, पृ० १. आ. कु.]

ज्ञानाभ्यास कर्मक्षय का हेतु

णाणब्भास विहीणो स-पर तच्चं ण जाणदे किं पि।
झाणं तस्स ण होइ हु, ताव ण कम्मं खवेइ ण हु मोक्खं ।।८९।।

अन्वयार्थ—(णाणब्भास विहीणो) ज्ञानाभ्यास से रहित जीव (स-पर तच्चं) स्व-पर तत्त्व को (किं पि) कुछ भी (ण) नहीं (जाणदे) जानता (तस्स) उसके (हु) निश्चय से (झाणं) ध्यान (ण होइ) नहीं होता (ताव) तब तक (कम्मं) कर्मों का (ण खवेइ) क्षय नहीं करता (ण हु मोक्खं) न ही मोक्ष होता है।

अर्थ—ज्ञानाभ्यास से विहीन जीव स्व-पर तत्त्व को कुछ भी नहीं जानता उसके निश्चय से ध्यान नहीं होता, तब तक कर्मों का क्षय नहीं करता, न ही मोक्ष होता है। अर्थात् ज्ञानाभ्यास के बिना स्व-पर की पहचान नहीं। स्व-पर की पहचान बिना ध्यान नहीं। ध्यान के बिना कर्मों का क्षय नहीं और कर्मक्षय के बिना मुक्ति नहीं। नीतिकार कहते हैं—

"नास्ति काम समो व्याधि, नास्ति मोह समो रिपुः।
नास्ति क्रोध समो वह्नि नास्ति ज्ञान समं सुखम्" ॥

ज्ञान के समान अन्य कोई सुख नहीं है अतः हे भव्यात्माओं! यदि तुम्हें गुरु या शिक्षक के सामने उतना ही अपमानित और नीचा बनना पड़े,

जितना कि भिक्षुक को धनवान् के समक्ष बनना पड़ता; फिर भी तुम ज्ञानाभ्यास करो। मनुष्यों में अधम वे लोग हैं, जो ज्ञानाभ्यास से/विद्या सीखने से विमुख होते हैं। मानव जाति की दो आँखें है एक अंक और एक अक्षर।

स्रोत को जितना खोदा जायेगा, उतना ही अधिक पानी निकलेगा। ठीक उसी प्रकार जितना अधिक ज्ञानाभ्यास किया जायेगा, स्व-पर का भेदज्ञान होगा। भेदविज्ञान की सिद्धि होने पर ध्यान में एकाग्रता होगी। ध्यान की निश्चलता में कर्मों का क्षय होते ही मुक्ति की प्राप्ति होगी।

अध्ययन ही ध्यान है

अज्झयण-मेव झाणं, पंचेंदिय-णिग्गहं कसायं पि।
तत्तो पंचम-याले पवयण-सारब्भास-मेव कुज्जाह ।।९०।।

अन्वयार्थ—(अज्झयण-मेव झाणं) अध्ययन ही ध्यान है (पंचेंदिय-णिग्गहं) पंचेन्द्रियों का निग्रह (कसायं पि) कषाय निग्रह/ शमन भी होता है (तत्तो) इसलिये (पंचम-याले) वर्तमान पंचम काल में (पवयण-सारब्भास-मेव) प्रवचन-सार जिनागम का अभ्यास (कुज्जाह) करना चाहिये।

अर्थ—अध्ययन ही ध्यान है। पंचेन्द्रियों का निग्रह व कषायों का भी निग्रह/शमन अध्ययन से होता है। इसलिये पंचमकाल/वर्तमान पंचमकाल में जिनेन्द्र भगवान के श्रेष्ठ वचनों का अभ्यास करना चाहिये।

जैसे धागे सहित सुई प्रमाद दोष से भी खोती नहीं है, ऐसे ही सूत्राध्ययन/ प्रवचनसार जिनागम के अभ्यास से सहित पुरुष प्रमाद दोष से भी नष्ट नहीं होता। प्रवचनसार-जिनागम का अर्थ क्या है ?

आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी प्रवचनसार जिनागम का भाव लिखते हुए कहते हैं—''प्रकृष्ट वचनं = प्रवचन है उसका सार प्रवचनसार जिनागम/ जिनवाणी है। वो प्रवचनसार कैसा है—

अन्यून-मनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहु-स्तज्ज्ञान-मागमिनः ।।

जो न्यूनता-अधिकता रहित है, याथातथ्य है, विपरीतता से रहित है, संदेह रहित है तथा तर्क या प्रत्यक्ष अनुमान आदि से उल्लंघनीय नहीं है वह सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव का वचन प्रवचनसार-जिनागम है।

स्वाध्याय ही परम तप है—"स्वाध्यायो परमः तपः"

स्वाध्याय ही परम ध्यान है क्योंकि १. ध्यान के समान ही स्वाध्याय में मन-वचन-काय तीनों की एकाग्रता होती है। २. स्वाध्याय करने से अज्ञान का नाश व ज्ञान का प्रकाश होता है। ३. तत्काल ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम बढ़ता है, ४. असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। ५. हेयोपादेय रूप भेद-विज्ञान की सिद्धि।

स्वाध्याय तप का फल— १. तत्त्व का अभ्यास २. वैराग्योत्पत्ति ३. धर्मप्रभावना ४. कुवादियों का मान-मर्दन ५. स्वाध्याय ६. परम रसायन।

सम्यक्ज्ञान ही धर्म्यध्यान

पावारंभ-णिवित्ती पुण्णारंभे पउत्तिकरणं पि।
णाणं धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्वजीवाणं।।९१।।

अन्वयार्थ—(सव्वजीवाणं) सब जीवों के लिए (पावारंभ-णिवित्ती) पापारंभ से निवृत्ति और (पुण्णारंभे) पुण्य कार्यों में (पउत्तिकरणं पि) प्रवृत्ति कराने का हेतु भी (णाणं) ज्ञान ही है अतः ज्ञान को ही (धम्मज्झाणं) धर्म्यध्यान (जिण-भणियं) जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अर्थ—जिनेन्द्र देव ने समस्त प्राणियों के लिए ज्ञान को ही धर्म्यध्यान कहा है; क्योंकि हिंसादि पाँच पापरूप आरंभ का त्याग व षट् आवश्यक रूप पुण्य कार्यों में प्रवृत्ति ज्ञान से ही होती है।

स्व-पर तत्त्व का ज्ञाता स्वाध्याय करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी है। उस ज्ञान के फल से ज्ञानी के—१. सकल पदार्थ का बोध २. हित-अहित का बोध ३. भाव संवर ४. नवीन-नवीन संवेग ५. मोक्षमार्ग में

स्थिति ६. तपोभावना और ७. अन्यदिक् ये ७ गुण प्रगट होते हैं। इसीलिये गुणों से सम्पन्न वह पाप का त्याग कर पुण्य में प्रवृत्ति करते हुए पुण्य-पाप रहित शुद्ध अवस्था की ओर लक्ष्य बनाये रखता है। इसीलिए आचार्य देव बार-बार कहते हैं—''णाणं पयासं'' ज्ञान का प्रकाश करो।

''भेद विज्ञान साबुन भयो, समरस निरमल नीर।
धोबी अन्तर आतमा, धोवे निज गुण चीर।।

श्रुताभ्यास के बिना सम्यक् तप नहीं

सुदणाणब्भास जो ण कुणइ सम्मं ण होइ तवयरण।
कुव्वंतो मूढमई संसार-सुहाणु-रत्तो सो।।९२।।

अन्वयार्थ—(जो) जो जीव (सुदणाणब्भास) श्रुतज्ञान का अभ्यास (ण) नहीं (कुणइ) करता है उसके (तवयरण सम्मं) तपश्चरण सम्यक् (ण होइ) नहीं होता है (सो) वह (मूढमई) अज्ञानी (कुव्वंतो) [तपश्चरण] करता हुआ (संसार-सुहाणु-रत्तो) संसार-सुख में अनुरक्त है।

अर्थ—जो जीव शास्त्रों का अध्ययन नहीं करता, उसका समीचीन तप नहीं होता। शास्त्राभ्यास के बिना तपश्चरण करता हुआ अज्ञानी संसार के सुखों में ही अनुरक्त है।

शास्त्रज्ञान जितना होगा उतना अधिक स्पष्ट ज्ञान होगा। जितना स्पष्ट ज्ञान होगा उतना ही निर्मल तपश्चरण होगा। जिनवाणी में प्रसिद्ध चारों ही अनुयोगों का कथन हरएक मुमुक्षु को जानना चाहिये। जिनवाणी के पढ़ते रहने से एक मूढ़ व्यक्ति भी ज्ञानी हो जाता है। स्वाध्याय के द्वारा आत्मा में ज्ञान प्रकट होता है, कषायभाव घटता है, संसार से ममत्व हटता है, मोक्ष भाव से प्रेम जगता है। अत: निरन्तर अभ्यास से मिथ्यात्व कर्म व अनंतानुबंधी कषाय का उपशम हो जाता है और सम्यग्दर्शन पैदा हो जाता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने श्री समयसार कलश में कहा है—

उभय-नय-विरोध-ध्वंसिनि स्यात्पदांके जिन-वचसि रमन्ते ये स्वयं वांतमोहा:।
सपदि समयसारं ते परंज्योति-रुच्चै-रनवम-नयपक्षाक्षुण्ण-मीक्षन्त एवं।।

निश्चयनय और व्यवहारनय के विरोध को मेटने वाली स्याद्वाद से लक्षित्त जिनवाणी में जो रमते हैं वे स्वयं मोह को वमन कर शीघ्र ही परमज्ञान ज्योतिमय शुद्धात्मा को जो नया नहीं है और न किसी नय के पक्ष से खंडन किया जा सकता है, देखते ही हैं।

श्रुताभ्यास मुनिधर्म व श्रावक धर्म दोनों के लिए उपकारी है। तपश्चरण में समीचीनता लाता है, मन को केन्द्रित करता है। संसार-सुखों से उदासीन बनता है।

मुनिराज तत्त्वचिंतक होते हैं

तच्च-वियारण-सीलो, मोॅक्ख-पहा-राहणा-सहाव-जुदो।
अणव-वरयं धम्म-कहा-पसंगओ होइ मुणिराओ।।९३।।

अन्वयार्थ—(तच्च) तत्त्व की (विचारणा-सीलो) विचारणा स्वभाव वाले (मोॅक्खपह) मोक्षपथ की (आराहणा) आराधना (सहाव-जुदो) स्वभाव से युक्त (अणवरयं) निरन्तर (धम्म-कहा) धर्मकथा के संबंध सहित (मुणिराओ) मुनिराज (होइ) होते हैं।

अर्थ—जो तत्त्वों के चिन्तन स्वभाव वाले हैं, मोक्षपथ की आराधना स्वभाव से युक्त हैं और निरन्तर धर्म-कथा में दत्तचित हो लगे रहते हैं वे मुनिराज होते हैं।

जो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप व्यवहार सम्यक्त्व के द्वारा उत्पन्न निश्चय सम्यग्दर्शन में परिणमन करने से दर्शन-मोह को नाश कर चुके हैं, निर्दोष परमात्मा से कहे हुए परमागम के अभ्यास से उपाधि से रहित स्वसंवेदनज्ञान की चतुराई से आगमज्ञान में प्रवीण हैं, व्रत, समिति, गुप्ति आदि बाहरी चारित्र के साधन के वश से अपने शुद्धात्मा में परिणमनरूप वीतराग चारित्र में भले प्रकार उद्यमी हैं तथा मोक्षरूप महापुरुषार्थ को साधने के कारण महात्मा हैं वे ही मुनिराज हैं। वे मुनिराज नित्य दर्शन-ज्ञान-चारित्र व तपाराधना में रत रहते हैं, विकथाओं से रहित धर्मकथा में ही संबंध रखते हैं। वे ही मुनिराज मोक्ष-पथ की आराधना के पथिक हैं।

मुनिराज की अनवरत चर्या

विकहादि-विप्पमुक्को, आहाकम्माइ विरहिओ णाणी ।
धम्मुद्देसण-कुसलो, अणुपेहा-भावणा-जुदो जोई ।।९४।।

अन्वयार्थ—(जोई) योगी/मुनिराज (विकहादि-विप्पमुक्को) विकथा आदि से पूर्णरूपेण मुक्त होता है (आहाकम्माइ) अध:कर्म आदि से रहित होता है; (णाणी) सम्यग्ज्ञानी होता है (धम्मुद्देसण-कुसलो) धर्मोपदेश देने में कुशल होता है; और (अणुपेहा-भावणा-जुदो) बारह अनुप्रेक्षा के चिन्तन में/मनन में अनवरत लगा रहता है।

अर्थ—मुनिराज चार विकथा आदि से पूर्ण मुक्त होते हैं, अध:कर्म रूप आरंभ पाप से रहित होते हैं, सम्यग्ज्ञानी होते हैं, समीचीनधर्म का उपदेश देने में कुशल होते हैं तथा सतत अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन में लगे रहते हैं।

जो अध:कर्म युक्त आहार लेते हैं उनका वन में रहना, शून्य स्थान में रहना अथवा वृक्ष के नीचे ध्यान करना क्या करेगा ? उनके सभी योग निरर्थक है। उनके कायोत्सर्ग और मौन क्या करेंगे ? क्योंकि मैत्री भाव रहित वह श्रमण मुक्ति का इच्छुक होते हुए भी मुक्त नहीं होगा ? [मूलाचार गा. ९२५/९२६]

मोक्षपाहुड में कहा है—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिमम्मो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ।।१२।।

जो शरीर की ममता रहित है राग-द्वेष से शून्य है यह मेरा है, इस बुद्धि को जिसने त्याग दिया है व जो लौकिक व्यापार से रहित है तथा आत्मा के स्वभाव में रत है वही योगी निर्वाण को पाता है।

मुनिराज कैसे होते हैं

णिंदा-वंचण-दूरो, परिसह-उवसग्ग-दुक्ख-सहमाणो ।
सुह-झाणज्झयण-रदो, गद-संगो होइ मुणिराओ ।।९५।।

अन्वयार्थ—(मुणिराओ) मुनिराज (णिंदा-वंचण दूरो) परनिन्दा और वंचना से सदा दूर रहते हैं। (परिसह-उवसग्ग-दुक्ख-सहमाणो) परीषह, उपसर्ग तथा दुखों को सहन करते हैं। (सुह-झाणज्झयण-रदो) शुभ ध्यान, अध्ययन में रत रहते हैं (गद-संगो) बाह्य-अन्त: परिग्रह से रहित (होइ) होते हैं।

अर्थ—मुनिराज/दिगम्बर साधु सदैव दूसरों की निन्दा से दूर रहते हैं, पर को ठगना रूप वंचना से दूर रहते हैं। बाईस परीषह, चार प्रकार के उपसर्ग तथा शारीरिक, मानसिक–आगन्तुक, परकृत दु:खों को सहन करने में सदा तत्पर रहते हैं। सदा शुभध्यान व अध्ययन/शास्त्राभ्यास में रत रहते हैं और बाह्य १० प्रकार तथा अन्तरंग १४ प्रकार के परिग्रह के त्यागी होते हैं। प्रवचनसार में भी आचार्य देव कहते हैं—

सम-सत्तु-बंधु-वग्गो सम-सुह-दुक्खो पसंस-णिंद समो।
सम-लोट्ठु-कंचणो पुण जीविद-मरणे समो समणो ॥२४१॥

जो शत्रु व मित्र समुदाय में समान बुद्धि के धारी हैं जो सुख-दुख में समान भाव रखते हैं, जो कंकण और सुवर्ण को समान मानते हैं, जीवन व मरण में समभाव हैं वही श्रमण साधु हैं।

मुनिराज अपनी सुदृढ़ इच्छाशक्ति के द्वारा पाँच इन्द्रियों को इस तरह वश में रखते हैं, जिस तरह हाथी अंकुश के द्वारा, घोड़ा चाबुक के द्वारा, गाय व भैंस आदि लाठी के द्वारा वशीभूत किये जाते हैं। वास्तव में इन तपस्वियों की महिमा को मापा नहीं जा सकता है। वे बाहरी अच्छी-बुरी दशा में समताभाव रखते हुए उसे पुण्य-पाप का नाटक जानते रहते हैं, इसी कारण वे बाह्य चेष्टाओं से अपने परिणामों को विचलित नहीं होने देते। इन महासाधुओं को मुक्ति द्वीप में जन्मना ही सच्चा जन्म भासता है।

मुक्ति मार्ग रत योगी होता है

**अवियप्पो णिद्दंदो, णिम्मोहो णिक्कलंको णियदो।
णिम्मल-सहाव-जुदो, जोई सो होइ मुणिराओ ॥९६॥**

अन्वयार्थ—जो (जोई) योगी (अवियप्पो) विकल्प रहित (णिद्दंदो) निर्द्वन्द्व (णिम्मोहो) निर्मोह (णिक्कलंको) निष्कलंक (णियदो) नियत (णिम्मल) निर्मल (सहाव-जुदो) स्वभाव से युक्त है (सो) वे (मुणिराओ) मुनिराज (होइ) होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ— जो योगी संकल्प-विकल्प रहित हैं, द्वन्द रहित हैं, मोह-रहित हैं, कलंक-रहित है, नियत/सदैव निर्मल स्वभाव से युक्त है वे ही मुनिराज होते हैं।

ऐसे मुनि संयम से सहित हैं, आरंभ-परिग्रह से विरत होते है, सुर-असुर से भी वन्दनीय होते हैं। वे ही मुनि परीषहों को सहने में दक्ष, सैकड़ों शक्तियों से सहित हो कर्मों के क्षय और निर्जरा करने में कुशल हैं, वे मुनि वन्दना करने योग्य हैं। इसी को कहते हैं—

इह लोग णिरा-वेक्खो, अप्पडि-बद्धो परम्हि लोयह्मि।
जुत्ताहार विहारो, रहिद-कसाओ हवे समणो ।।२२६ प्र.सा. ।।

श्रमण/मुनि कषाय रहित होता हुआ, इस लोक में विषयाभिलाषा रहित होता है तथा परलोक में देवादि पर्याय की इच्छा नहीं करता हुआ योग्य आहार विहार में प्रवृत्ति करता है।

मिथ्यात्व सहित मुक्ति का हेतु नहीं

तिव्वं काय-किलेसं, कुव्वंतो मिच्छ-भाव संजुत्तो।
सुव्वण्हुव-देसे सो, णिव्वाण-सुहं ण गच्छेइ ।।९७।।

अन्वयार्थ—जो (तिव्वं काय-किलेसं) तीव्र काय-क्लेश करता हुआ भी (मिच्छ-भाव संजुत्तो) मिथ्यात्व भाव से युक्त है, (सुव्वण्हुव-देसे) सर्वज्ञ के उपदेश में (सो) वह (णिव्वाण-सुहं) निर्वाण-सुख को (ण) नहीं (गच्छेइ) पाता है।

अर्थ— जो योगी या श्रावक तीव्र काय-क्लेश (विचित्र उपवास आदि बाह्य तप) करता हुआ भी मिथ्यात्व रूप भाव से सहित है, सर्वज्ञ के उपदेश में वह निर्वाण सुख को नही पाता है।

यहाँ जिस प्रकार गुड़ से मिश्रित दूध को पीने पर भी साँप अपना विष नहीं छोड़ते। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव जिनधर्म को अच्छी तरह सुनकर, दुर्धर काय-क्लेश, घोर तपश्चरण उपवास बेला-तेला आदि करते हुए भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। सत्य तो यह है कि जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व से आच्छादित हो मोक्षमार्ग से विपरीत हो रही है ऐसा दुर्बुद्धि मिथ्यादृष्टि जीव रागरूपी पिशाच से गृहीत चित्त हुआ सर्वज्ञ देव के वचनों में श्रद्धा ही नहीं करता। अश्रद्धालु की मुक्ति कैसे हो सकती है। कभी नहीं।

रागी को आत्मा का दर्शन नहीं

रायादि-मल-जुदाणं, णियप्प-रूवं ण दिस्सदे किं ।
समला-दरिसे रूवं, ण दिस्सए जह तहा णेयं ।।९८।।

अन्वयार्थ—(रायादि-मल-जुदाणं) राग आदि मल से युक्त जीवों को (णियप्प-रूवं) अपना आत्म-स्वरूप (किं) कुछ (पि) भी (ण) नहीं (दिस्सदे) दिखाई देता है (जह) जैसे (समला-दरिसे) मलीन दर्पण (रूवं) रूप (ण दिस्सए) नहीं दिखाई देता (तहा) वैसे ही (णेय) जानना चाहिये।

अर्थ—जैसे मल-सहित/गंदे/मलीन दर्पण में रूप नहीं दिखाई देता है उसी प्रकार राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ आदि मल से मलीन जीवों को अपना आत्मा स्वरूप नहीं दिखाई देता, ऐसा समझना चाहिये।

आचार्य कहते हैं—हे योगी! तेरा नाग्न्य पद वनवास से सहित है परन्तु अन्तरंग का विकार नष्ट हुए बिना मात्र वनवास कुछ कार्यकारी नहीं है। जैसा कि कहा है—

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते वर्त्मनि यः प्रवर्तते विमुक्तरागस्य गृहं तपोवनं ॥

रागी मनुष्यों के वन में भी दोष उत्पन्न होते हैं और राग-रहित मनुष्यों के घर में भी पंचेन्द्रियों का निग्रह रूप तपश्चरण होता है। जो मनुष्य निर्दोष मार्ग में प्रवृत्ति करता है उस वीतराग के लिए घर ही तपोवन है।

यह राग-आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग निज पद बेइये॥

हे योगी ! राग की आग में जना अब उचित नही। समतारूपी अमृत का पान करो। अनादिकाल से विषय-कषायों की लपटों में धधकती हुई इस आत्मा को यदि अभी देखना चाहते हो, आत्म-तत्त्व की प्राप्ति करना चाहते हो, तो इस राग का शीघ्र त्याग करो।

दीर्घ संसारी

दंडत्तय सल्लत्तय, मंडिदमाणो असूयगो साहू।
भंडण-जायणसीलो, हिंडइ सो दीहसंसारे॥९१॥

अन्वयार्थ—जो (साहु) साधु (दंडत्तय) तीन दंड-मन, वचन काय को वश में नहीं करता (सल्लत्तय) तीन शल्य-माया, मिथ्या-निदान से युक्त (मंडिदमाणो) अभिमानी (असूयगो) ईर्ष्यालु और (भंडण-जायणसीलो) कलह करने वाला, याचना करने वाला है (सो) वह (दीहसंसारे) दीर्घसंसार में (हिंडइ) परिभ्रमण करता है।

अर्थ—जो साधु मन-वचन-काय तीनों दंडों को वश में नहीं करता, माया-मिथ्या-निदान शल्यों से युक्त है, अभिमानी है, ईष्यालु है और कलह करने वाला है, याचना करता है वह दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता है।

आचार्य देव साधु को संबोधन देते हुए कहते हैं—हे जीव ! तेरा यह नग्न भेष, पैशुन्य, हास्य, कलह, याचना से युक्त होने से दूषित हो गया है। जिस स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति के उद्देश्य से तूने यह पवित्र भेष धारण किया है, उसकी पूर्ति तेरे इस दूषित भेष से नहीं हो सकती। क्योंकि जिस प्रकार थोड़ा सा विष बहुत भारी दुग्ध को दूषित कर देता है उसी प्रकार थोड़ा भी ईर्ष्या, कलह, याचना आदि रूप विभाव परिणाम तेरे लिए दीर्घ संसार में परिभ्रमण का कारण बनेगा।

सम्यक्त्व-रहित साधु कौन

देहादिसु अणुरत्ता, विसयासत्ता कसाय-संजुत्ता ।
आद-सहावे सुत्ता, ते साहू सम्म-परिचत्ता ।।१००।।

अन्वयार्थ—जो (देहादिसु अणुरत्ता) शरीर आदि में अनुरक्त (विसयासत्ता) विषयों में आसक्त (कसाय-संजुत्ता) कषाय से युक्त (आद-सहावे सुत्ता) आत्म-स्वभाव में सोये हुए/प्रमादी हैं (ते साहू) वे साधु (सम्म-परिचत्ता) सम्यक्त्व से रहित हैं।

अर्थ—जो मुनि संसार शरीर भोगों में अनुरक्त है, पंचेन्द्रिय विषय-वासना में आसक्त, कषाय की तीव्रता से युक्त तथा आत्म स्वभाव में सुसुप्त हैं वे साधु सम्यक्त्वहीन मिथ्यादृष्टि हैं।

अर्थात् जो साधु अवस्था धारण करके भी स्पर्शन के कोमल-कठोर पदार्थों में, रसना इन्द्रिय के खट्टा-मीठा आदि रसों में, सुगंध-दुर्गंध में, अश्लील चित्रों आदि के देखने रूप मनोरंजन में व गीतों के गाने व सुनने में आसक्त हैं, वासना से लिप्त हो शरीर का सुखियापन को नहीं छोड़ते, शरीर का शृंगार करते हैं, तथा कषाय की तीव्रता से युक्त हैं, आत्मस्वभाव से अनभिज्ञ हैं, वे साधु सम्यक्त्व से रहित मिथ्यादृष्टि हैं। आचार्य कहते हैं– जो व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्व से रहित हैं मात्र बाह्य नग्न भेष को धारण कर मुनि बना है वह दीर्घकाल तक अर्थात् जब तक सिद्धपरमेष्ठी मुक्ति में निवास करते हैं तब तक (अनन्त काल) दीर्घ संसार में अनन्त ज़न्म, मरण से युक्त संसार-सागर में डूबना-तैरना करता रहता है।

जैन-धर्म के विराधक

आरंभे धण-धण्णे, उवयरणे कंखिया तहासूया ।
वय-गुणसील-विहीणा, कसाय-कलहप्पिया मुहरा ।।१०१।।
संघ-विरोह-कुसीला, सच्छंदा रहिय गुरुकुला मूढा ।
रायादि सेवया ते, जिण-धम्म-विराहया-साहू ।।१०२।।

अन्वयार्थ—(जो) (साहू) साधु (आरंभे) आरंभ में (धण-धण्णे) धन-धान्य में (उवयरणे) उपकरणों में (कंखिया) आकांक्षा रखते हैं। (तहा) तथा (असूया) ईर्ष्यालु हैं (वय-गुण-सील-विहीणा) व्रत-गुण-शील से रहित हैं (कसाय-कलहप्पिया) कषाय वह कलहप्रिय हैं (मुहरा) वाचाल हैं (संघ-विरोह-कुसीला) संघ का विरोध करते हैं, कुशील हैं (सच्छंदा) स्वच्छंद हैं (रहिय गुरुकुला) गुरुकुल से रहित हैं (मूढा) अज्ञानी हैं (रायादि सेवया) राजा आदि की सेवा करते हैं (ते) वे (जिण-धम्म विराहया) जिनधर्म के विराधक साधु हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—जो साधु आरंभ में, धन्य-धान्य में, अच्छे-अच्छे/सुन्दर उपकरणों में आकांक्षा रखते हैं। गुणवानों या साधर्मियों में ईर्ष्या रखते हैं, व्रत-गुण-शील से रहित हैं अर्थात् व्रतों में अतीचार अनाचार लगाते रहते हैं, कषाय की तीव्रता व कलह प्रिय स्वभावी हैं, व्यर्थ में बहुत बोलते हैं/बकवादी/वाचाल हैं, आचार्य संघ का, उनकी आज्ञा का विरोध करते हैं, कुशील हैं/व्रतों से च्युत हैं, मात्र बाह्य में नग्न हैं, स्वेच्छाचारी हैं, गुरुकुल में/गुरु या आचार्य संघ में नहीं रहते हैं, हेय-उपादेय के ज्ञान से च्युत हैं, स्व-पर विवेक से शून्य अज्ञानी हैं, राजा आदि की सेवा करते हैं/ धनाढ्य पुरुषों की सेवा-चाकरी करते है वे साधु मात्र भेषधारी हैं। ये जिनधर्म के विराधक हैं।

श्रमणों को दूषित करने योग्य कार्य

जोइस-वेज्जा-मंतोव-जीवणं वायवस्स ववहारं।
धण-धण्ण-परिग्गहणं समणाणं दूसणं होइ ।।१०३।।

अन्वयार्थ—(जोइस-वेज्जा-मंतोव-जीवणं) ज्योतिष, वैद्यक, मंत्रों द्वारा उपजीविका/आजीविका चलाना (वायवस्स ववहारं) वात-विकार का व्यापार–[भूत-प्रेत आदि का झाड़-फूक करने का व्यापार] (धण-धण्ण-परिग्गहणं) धन-धान्य आदि का ग्रहण करना ये सब कार्य (समणाणं) श्रमणों के लिए (दूसणं) दोष (होइ) होते हैं।

अर्थ—ज्योतिष, वैद्यक, मंत्रों की विद्या द्वारा आजीविका करना, वातादि विकार रूप भूत-प्रेत आदि को उतारने के लिए झाड़ फूँक का व्यापार करना, धन-धान्य का ग्रहण करना ये सब कार्य श्रमणों/साधुओं/मुनिराजों के लिए दोष होते है। अष्टपाहुड ग्रंथ में आचार्य देव लिखते है—

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सा पावमोहिदमदी तिरिक्ख जोणी ण समणो ॥५॥ लिं० प्रा०॥

अर्थात् मुनि होकर भी जो नाना प्रकार के प्रयत्नों/व्यापारों से परिग्रह का संचय करता है उसकी रक्षा करता है, तथा उसके निमित्त आर्त्तध्यान करता है, उसकी बुद्धि पाप से मोहित है, उसे श्रमण नहीं पशु समझना चाहिये। वह मुनि कहलाने का अधिकारी नहीं है [पृ० ६८४]।

जो मुनि [illegible] हस्तरेखा, मस्तिष्क रेखा, तिल, मसा आदि देखकर ज्योतिष विद्या से आजीविका करते हैं, औषधि–जड़ी-बूटियाँ बताकर आजीविका करते हैं तथा जो भूत-प्रेत आदि के लिए झाड़ फूँककर, मंत्र-तंत्र विद्या आदि के द्वारा आजीविका करते वे मुनिभेषी मात्र व्यापारी हैं, उन्हें जिनलिंग को दूषित करने वाले ठग समझना चाहिये।

सम्यक्त्वविहीन मुनि

ये पावारंभ-रया, कसाय-जुत्ता परिग्गहा-सत्ता।
लोय ववहार-पउरा, ते साहू सम्म-उम्मुक्का ।।१०४।।

अन्वयार्थ—(जे) जो साधु (पावारंभ-रया) पाप और आरंभ में रत हैं (कसाय-जुत्ता) कषाय युक्त हैं (परिग्गह आसत्ता) परिग्रह में आसक्त हैं (लोय-ववहार-पउरा) लोक-व्यवहार में पटु/प्रमग्न हैं (ते साहू) वे साधु (सम्म-उम्मुक्का) सम्यग्दर्शन से उन्मुक्त/रहित हैं।

अर्थ—जो साधु पाप और आरंभ में रत हैं, कषाय से युक्त हैं, परिग्रह में आसक्त, लोक व्यवहार में पटु; निमग्न हैं वे साधु सम्यग्दर्शन से रहित है।

जिन साधुओं को हिंसादि पाप व पंचसूना आरंभ के दोष का भय

नहीं है, उनसे होने वाले पाप की चिन्ता नहीं है, अहिंसाव्रत की रक्षार्थ मुनिलिंग धारण करते समय ईर्या-समिति से चलने का नियम लेकर कूदते हुए, दौड़ते हुए, पृथ्वी को खोदते हुए चलते हैं, असत्य भाषण करते है, दूसरों के उपकरण आदि की चोरी करते है, अब्रह्म से युक्त हैं, परिग्रह का संचय करते रहते हैं, किसी के बंधन में फँसकर धान आदि कूटते हैं, पृथ्वी खोदते हैं, वे मुनि सम्यक्त्व-रहित हैं। वस्तुतः वे मुनि ही नहीं हैं। और भी.....

प्रवचनसार ग्रंथ मे आचार्य देव लिखते हैं—यदि स्वयं आत्मा की भावना करने वाला होने पर भी यदि साधु अनर्गल व स्वेच्छाचारी लौकिक जनों की संगति करता है, उनकी संगति का त्याग नहीं करता है तो अति परिचय होने से अग्नि की संगति से जल उष्णपने को प्राप्त हो जाता है ऐसे वह साधु विकारी हो जाता है। सम्यक्त्व व संयम से च्युत हो जाता है। अतः मुनियों के लिए लौकिक संग सर्वथा निषेध्य है।

परनिन्दक–आत्मप्रशंसक मोक्षमार्गी नहीं

ण सहंति इयरदप्पं, थुवंति अप्पाण-मप्प–माहप्पं।
जिव्ह-णिमित्तं कुणंति, कज्जं ते साहु सम्म-उम्मुक्का ।।१०५।।

अन्वयार्थ—जो (साहु) साधु (इयरदप्पं) दूसरों के बड़प्पन को (ण सहंति) नहीं सहते हैं (अप्पाणं) अपनी और (अप्प-माहप्पं) अपने माहात्म्य की (थुवंति) प्रशंसा करते हैं। (जिव्ह णिमित्तं) जिव्हा इन्द्रिय के निमित्त (कज्जं) कार्य (कुणंति) करते हैं (ते) वे (साहु) साधु (सम्म–उम्मुक्का) सम्यक्त्व से विहीन/रहित जानो।

अर्थ—जो साधु दूसरों की महानता/बड़प्पन/गुणों को सहन नहीं करते हैं और अपनी तथा अपने माहात्म्य की ही प्रशंसा सदा करते हैं। जिव्हा के वश हो, उसी के लिए कार्य करते हैं वे साधु सम्यक्त्व से रहित होते हैं। उमास्वामी आचार्य तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में लिखते है—

''परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य'' ।।२५।।

जो जीव परनिन्दा–दूसरों के सच्चे या झूठे दोषों को प्रकट करता है, अपनी प्रशंसा करता है, दूसरों के गुणों को सहन नहीं कर पाता और सदा अपनी ही बड़प्पन या गुण प्रकट करता है वह नीच गोत्र का बंध करता है।

धर्ममार्गसार ग्रंथ में आचार्य देव लिखते है—प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि हम सबसे बड़े हैं, दूसरा कुछ नहीं जानता। इस तरह डींग मारना ठीक नहीं क्योंकि हजारों किरणों वाले सूर्य को छोटा सा छाता रोक देता है, वैसे ही बड़े-बड़े विद्वान्, सभ्य, समझदार व्यक्ति भी छोटे से बच्चों द्वारा शिक्षा के पात्र हो जाते हैं। अत: किसी को भी परनिंदा, स्वप्रशंसा करना अच्छा/उचित नहीं है। सर्वथा अनुचित ही है —अर्थात् परनिंदक, आत्मप्रशंसक तथा जो खाने के लिए जी रहा है वह साधु सम्यक्त्व से विहीन है।

पापी जीव

चम्मट्ठि-मंस-लव-लुद्धो सुणहो गज्जए मुणिं दिट्ठा।
जह तह पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठो ।।१०६।।

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (चम्मट्ठि) चर्म, अस्थि (मंस-लव-लुद्धो) मांस के टुकड़े का लोभी (सुणहो) कुत्ता (मुणिं) मुनि को (दिट्ठा) देखकर (गज्जए) भोंकता है (तह) वैसे ही (पाविट्ठो) जो पापी जीव है (सो) वह (सगीयट्ठो) स्वार्थवश (धम्मिट्ठ) धर्मात्मा को (दिट्ठा) देखकर भोंकता/कलह करता है।

अर्थ—जैसे चर्म, अस्थि, मांस के टुकड़े का लोभी कुत्ता, मुनि को देखकर भोंकता है वैसे ही जो पापी जीव हैं वे स्वार्थवश धर्मात्मा को देखकर कलह करते हैं। यहाँ एक प्रश्न खड़ा होता है धर्मात्मा को देखकर पापी क्यों भोंकते है ?

पापी जीव पाप में सुख मानते हैं। अपने भोगों में धर्मात्मा जीव कहीं बाधक नहीं बन जावे, कहीं त्याग की बात कहकर हमें अपने सुखोपभोग

से नहीं छुड़ा दें, कहीं अच्छे कार्यों/धर्म कार्यों में नहीं फँसा दें, ऐसा विचार कर वे धर्मात्मा को दूर से ही देखकर चिल्लाने लगते हैं, कलह शुरू कर देते हैं। फलत: धर्मात्मा जीव दूर से ही अपना रास्ता खोज निकल जाता है।

मोक्षमार्गी साधु

भुंजेइ जहा-लाहं, लहेइ जइ णाण-संजम-णिमित्तं।
झाण-ज्झयण-णिमित्तं, अणयारो मोक्खमग्ग-रओ ।।१०७।।

अन्वयार्थ—जो (जइ) योगी (णाण-संजम-णिमित्तं) ज्ञान और संयम के निमित्त (झाण-ज्झयण-णिमित्तं) ध्यान-अध्ययन के निमित्त (जहा-लाहं) यथालाभ जो प्राप्त हो गया (लहेइ) ग्रहण करते हैं वे (अणयारो) अनगार/साधु (मोक्खमग्ग-रओ) मोक्षमार्ग में रत हैं।

अर्थ—जो योगी ज्ञान और संयम की सिद्धि के लिए , ध्यान-अध्ययन की प्राप्ति के लिए अपनी विधि अनुसार यथालाभ जो भी प्राप्त हो गया, ग्रहण कर लेते हैं—वे योगी/मुनिराज मोक्षमार्ग में रत हैं।

मुनिराज छह कारणों से आहार करते हैं—१. संयम रक्षा २. शरीर-स्थिति ३. क्षुधा नाश ४. वैय्यावृत्य ५. स्वाध्याय और ६. ध्यान। मोक्षमार्ग में रत साधु इन कारणों से आहार लेता हुआ भी मोक्षमार्गी है।[मू.चा.प्र.]

मुनि छह कारणों से आहार लेते हैं—१. क्षुधा-शमन हेतु २. वेदना-शमन हेतु ३. छट् आवश्यक क्रिया पालन हेतु ४. संयम की रक्षार्थ ५. प्राणों की रक्षार्थ और ६. धर्म की रक्षार्थ। तथा मुनि छह कारणों से ही आहार का त्याग करते हैं—१. आतंक होने पर २. उपसर्ग आने पर ३. ब्रह्मचर्य की रक्षार्थ ४. प्राणी-दया के लिए ५. तप के लिए और ६. संन्यास के लिए [मू.चा.]।

मुनि-चर्या के विभिन्न प्रकार

उदरग्गिय-समण-मक्ख-मक्खण-गोयार-सब्भपूरण-भमरं।
णाऊण तप्पयारे, णिच्चेव भुञ्जए भिक्खू ।।१०८।।

अन्वयार्थ—(उदरग्गिय-समण-मक्ख-मक्खण-गोयार-सब्भपूरण-भमरं) उदराग्नि शमन अक्ष-म्रक्षण, गोचारी, श्वभ्रपूरण और भ्रामरो वृत्ति और (तप्पयारे) उसके प्रकारों को (णाऊण) जानकर (भिक्खू) साधु (णिच्चेवं) नित्य ही (भुञ्जए) आहार ग्रहण करें।

अर्थ—साधु हमेशा ही उदराग्नि शमन, अक्ष-भ्रमण, गोचरी, श्वभ्र-पूरण और भ्रामरी वृत्ति और उसके प्रकारों का जानकर विधिवत् ही आहार ग्रहण करें।

आचार्यो ने मूलाचार आदि अनगार चर्या संबंधी ग्रंथों में आहार चर्या की ५ विधियाँ कही हैं—

१. उदराग्नि शमन—जितने आहार से उदर की अग्नि शान्त हो जाए उतना ही आहार लेना उदराग्नि शमन चर्या है।

२. अक्षम्रक्षण—जिस प्रकार गाड़ी चलाने के उसकी धुरी पर तेल (ग्रीस) तेल डालते हैं उसी प्रकार शरीर रूपी गाड़ी को मोक्ष नगर पहुँचाने के लिए आहार लेना अक्षम्रक्षण चर्या है।

३. गोचरी—जैसे गाय के चारा डालने पर गाय की दृष्टि चारे पर रहती है। चारा डालने वाले की सुन्दरता या आभूषण पर नहीं, वैसे ही जिस चर्या में मुनि की दृष्टि आहार पर रहती है, देने वाले के सौन्दर्य, आभूषण, गरीबी, अमीरी पर नहीं, वह गोचरी है।

४. श्वभ्रपूरण—जैसे गड्ढे को मिट्टी, कूड़ा-कचरा आदि किसी से भी भरा जाता है वैसे उदर/पेटरूपी गड्ढे को सरस-नीरस चाहे जैसे भी शुद्ध आहार से भर देना श्वभ्रपूरण है।

५. भ्रामरी—जैसे भ्रमर फूलों को कष्ट न देते हुए रस ग्रहण करता है वैसे ही साधु, गृहस्थ को कष्ट न देते हुए आहार ग्रहण करते हैं, वह भ्रामरी चर्या है।

धर्मानुष्ठान के योग शरीर पोषण के योग्य है

रस-रुहिर-मंस-मेदट्ठि सुकिल-मल-मूत्त-पूय-किमि-बहुलं।
दुग्गंध-मसुइ-चम्ममय-मणिच्च-मचेयणं पडणं।।१०९।।

बहु-दुक्ख-भायणं कम्म-कारणं भिण्ण-मप्पणो देहं।
तं देहं धम्माणुट्ठाण-कारणं चेदि पोसए भिक्खू ।।११०।।

अन्वयार्थ—(देहं) शरीर (रस) (रुहिर) रुधिर (मंस-मेदट्ठिसुकिल-मल-मूत्त-पूय-किमि बहुलं) मांस, मेदा, अस्थि, शुक्र, मल, मूत्र, पूय/पीव, कृमि/कीड़ों से भरा हुआ (दुग्गंध) दुर्गंधयुक्त (असुइ) अपवित्र (चम्म-मयं) चर्ममय (अणिच्चं) अनित्य (अचेयणं) अचेतन (पडणं) नाशवान (बहु-दुक्ख-भायणं) अनेक प्रकार के दुःखों का भाजन (कम्म-कारणं) कर्मों के आस्रव का कारण (अप्पणो भिण्णं) आत्मा से भिन्न है (तं) उस शरीर को (धम्माणुट्ठान-कारणं) धर्मानुष्ठान का कारण है (चेदि) ऐसा जानकर (भिक्खू) भिक्षु/साधु (पोसदे) पोषण करते हैं।

अर्थ—यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, शुक्र, मल-मूत्र, पूय/पीव और असंख्यात कीड़ों से भरा हुआ है। दुर्गन्ध युक्त है, अपवित्र, चर्ममय, अनित्य, अचेतन, नश्वर, अनेक प्रकार के दुक्खों का कारण, पापों का द्वार और आत्मा से भिन्न है। परन्तु यह धर्मानुष्ठान का कारण है। यह मानकर साधु उस देह का पालन-पोषण करता है।

"स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रय पवित्रिते" (र.श्रा.)

मानव देह स्वभाव से अपवित्र होने पर रत्नत्रय से पवित्र है। अतः सज्जन पुरुष रत्नत्रय की पूर्णता के लिए इसका पोषण करते हैं।

युक्ताहारी साधु ही दुखों के क्षय में समर्थ

संजम-तव-झाण-ज्झयण-विणाणए गिण्हए पडिग्गहणं।
वज्जइ[1] गिण्हइ भिक्खू ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खं ।।१११।।

अन्वयार्थ—(भिक्खू) भिक्षु (संजम-तव-झाण-ज्झयण-विणाणए) संयम, तप, ध्यान, अध्ययन व विज्ञान के लिए

---
[1] वच्चइ पाठ भी है [ब प्रति]

(पडिग्गहण) प्रतिग्रहण/आहार (गिण्हए) ग्रहण करता है—वह यदि (वज्जइ) इन कारणों को छोड़कर (गिण्हइ) आहार ग्रहण करता है तो (दुक्खं वज्जिदुं) संसार के दुःखों को छोड़ने के लिए (सक्कदे ण) समर्थ नहीं हो सकता है ।

अर्थ—मुनिराज संयम, तप, ध्यान, अध्ययन और विशेष ज्ञान की प्राप्ति के लिए आहार ग्रहण करते हैं। यदि वे इन कारणों से भोजन ग्रहण नहीं करते हैं तो संसार के दुखों को छोड़ने के लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यहाँ यह भाव है कि साधु इस लोक व परलोक की इच्छा को छोड़कर व काम-क्रोधादि के वशीभूत न हो, इस शरीर को प्रदीप के समान जानते हैं, अतः शरीररूपी दीपक के लिए आवश्यक तैल रूप ग्रास मात्र को देते हैं, जिससे शरीररूपी दीपक बुझ नहीं जावे। वे ही साधु युक्ताहारी हैं। परन्तु जो साधु शरीर की पुष्टि करने के निमित्त भोजन करते हैं वे युक्ताहारी नहीं हैं। तथा युक्ताहारी न होने से संसार के दुःखों से छूटने में भी समर्थ नहीं हैं।

जो श्रमण आत्मा को स्वयं अनशन स्वभाव भाते हैं और उसकी सिद्धि के लिए एषणा दोष शून्य अन्न आदि की भिक्षा आचरते हैं, वे आहार करते हुए भी अनाहारी हैं क्योंकि युक्ताहारित्व के कारण उनके स्वभाव तथा परभाव के निमित्त से बन्ध नहीं होता, इसलिये वे साक्षात् अनाहारी ही हैं [प्रवचनसार, पृ० ५३९]।

वह साधु है क्या ?

कोहेण-य कलहेण य, जायण-सीलेण संकिलेसेण ।
रुद्देण य रोसेण य, भुंजइ किं वितरो भिक्खू ।।११२।।

अन्वयार्थ—जो साधु (कोहेण य) क्रोध से (कलहेण य) कलह से (जायण सीलेण) याचना करके (संकिलेसेण) संक्लेश से (रुद्देण य) रौद्र परिणामों से तथा (रोसेण य) रोस/रुष्ट होकर (भुंजइ) आहार ग्रहण करता है वह (किं भिक्खू) क्या भिक्षु/साधु है ? वह तो—(वितरो) व्यन्तर है ।

अर्थ—जो साधु होकर/दिगम्बर मुनि अवस्था धारण करके भी क्रोध से, कलह से, याचना/माँग-माँग करके, संक्लेश से, रौद्र/क्रूर परिणामों से, तथा रुष्ट होकर अर्थात् असंतुष्ट होकर आहार ग्रहण करता है, वह साधु है क्या ? नहीं। वह तो व्यन्तर है।

आहार शुद्धि संदेश

दिव्वुत्तरण-सरिच्छं जाणिच्चाहो धरेइ जइ सुद्धो।
तत्तायस-पिंडसमं, भिक्खू तुह पाणिगद-पिंडं ।।११३।।

अन्वयार्थ—(अहो) हे (भिक्खू) भिक्षुक/मुने (जइ) यदि (तुह पाणिगद पिंड) तुम्हारे हाथों में गया/हाथ पर रखा पिंड (तत्तायस-पिंड-समं सुद्धो) तपाये हुए लोहे के पिंड के समान शुद्ध है—तो उसे (दिव्वुत्तरण-सरिच्छं) दिव्य नौका के समान (जाणिच्चा) जानकर (धरेइ) ग्रहण कर।

अर्थ— हे मुने ! यदि तुम्हारे/तेरे हाथ पर/करपात्र में रखा गया आहार पिंड तपाये हुए लोहे के पिंड के समान शुद्ध हो तो उसे संसाररूपी समुद्र से तिरने के लिए दिव्य नौका समान समझकर ग्रहण करो।

यहाँ "लोहपिंडवत् शुद्ध" शब्द आचार्यश्री ने दिया है जिसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार तप्तायमान लोहपिंड के पास कोई जीव-जन्तु नहीं आता तथा धूली आदि कण भी जलकर नष्ट हो जाते हैं वह इसी कारण शुद्ध कहलाता है उसी प्रकार मल दोषों से रहित, जीव-जन्तु रहित आहार शुद्ध है साधुओं के लिए ग्राह्य है। कहा भी है —

छियालीस दोष बिना, सुकुल श्रावकतने घर असन को।
लें तप बढ़ावन हेतु नहीं तन पोषते तजि रसन को ।।छ.ढा. ।।

मुनिराज का आहार जो ४६ दोषों से रहित है, संसार-सागर तरने को नौकावत् है—

४६ दोष— १६ उद्गम दोष—ये दोष दाता के आश्रित होते हैं।
१६ उत्पादन दोष—ये दोष पात्र के आश्रित होते हैं।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१ भोजन दोष १ संयोजन दोष १. अप्रमाण दोष १. अंगार दोष १. अध: कर्म दोष = १६+१६+१०+१+१+१+१=४६ दोष।

साथ ही उस भोजन को एक ही बार पूर्ण पेट न भरकर ऊनोदर, यथालब्ध आहार भिक्षा के द्वारा लेना योग्य आहार होता है। उसमें भी रात्रि में नहीं। जब मध्याह्नकाल में सामायिक के समय में दो घड़ी बाकी रह जाय, भिक्षा का समय जान सिंहवृत्ति-से पीछी-कमंडलु को बाँये हाथ में रखकर, दाहिना हाथ कंधे पर रख चर्या को जाना चाहिये।

आहार के समय खड़े होने का नियम—मुनियों को अपने दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर खड़ा होना चाहिये। अपने दोनों हाथों को छिद्ररहित बना लेना चाहिये। तदनंतर सिद्धभक्ति कर नवधा भक्ति से दिया गया पापरहित प्रासुक आहार ग्रहण करना चाहिये।

आहार में रसों की इच्छा नहीं होनी चाहिये। भोजन मद्य-मांस-मधु से रहित होना चाहिये। इस प्रकार मुनिराज आचारशास्त्र में कही गई पिण्डशुद्धि के क्रम से समस्त अयोग्य आहार को छोड़ते हुए आहार लेते हैं।

पात्रों के अनेक प्रकार

अविरद-देस-महव्वय, आगम-रुइणं वियार-तच्चण्हं।
पत्तंतरं सहस्सं, णिद्दिट्ठं जिणवरिं देहिं ।।११४।।

अन्वयार्थ—(अविरद-देस-महव्वय) अविरतसम्यग्दृष्टि, देशव्रती, महाव्रती (आगम-रुइणं) जिनागम में रुचि रखने वाले (वियार-तच्चण्हं) तत्त्वों के विचारकों की अपेक्षा (जिणवरिंदेहिं) जिनेन्द्र देव ने (पत्तंतरं सहस्सं) हजारों प्रकार के पात्र (णिद्दिट्ठं) कहे हैं।

अर्थ—जिनेन्द्र देव ने अविरतसम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक, महाव्रत-मुनिराज, शास्त्राभ्यासी/जिनागम में रुचि रखने वाले तथा तत्त्व चिंतकों की अपेक्षा हजारों प्रकार के पात्र कहे हैं।

शंका—सम्यग्दृष्टि, देशव्रती व महाव्रती तो दर्शन तथा चारित्रवान हैं अत: पात्र हैं पर शास्त्राभ्यासी व तत्त्वचिंतक पात्र कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—

तत्प्रतिप्रीति चिंतेन येन वार्ताऽपि श्रुता।
निश्चितं स भवेद् भव्य भावि निर्वाण भाजन: ।।पं. पंचवि. ।।

जो आत्मा की बात को, जिनागम की वार्ता को भी प्रीति से ध्यान लगा कर सुनता है वह निश्चय से भव्य है, निकट भावी काल में मुक्ति का भाजन होगा। निकट भव्यता की अपेक्षा उनको पात्र कहा है।

मंद कषायी जीव को शास्त्राभ्यास/जिनागम में रुचि होगी तथा तत्त्व चिंतक भी मन्द कषायी ही हो सकता है, कहा भी जाता है —

सर्प डस्यो तब जानिये, रुचिकर नीम चबाय।
पाप डस्यो तब जानिये, जिनवाणी न सुहाय।।

मुनियों की पात्रता

उवसम-णिरीह-झाण-ज्झयणाइ महागुणा जहा दिट्ठा।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तम-पत्ता तहा भणिया।।११५।।

अन्वयार्थ—(जेसिं) जिन मुनियों में (उवसम-णिरीह-झाण-ज्झयणाइ) उपशम, निस्पृहता, ध्यान, अध्ययन आदि (महागुणा) महान् गुण (जहा दिट्ठा) जैसे देखे गये (ते) वे (मुणिणाहा) मुनिराज (तहा) वैसे ही (उत्तम-पत्ता) उत्तम पात्र कहे गये हैं।

अर्थ—जिन मुनियों में उपशम-कषायों की मंदता, निस्पृहता-निरीह वृत्ति/अपेक्षारहित वृत्ति, ध्यान-अध्ययन आदि महान् गुण जैसे देखे गये, वे मुनिराज भी वैसे ही उत्तम पात्र कहे गये हैं।

पात्र में/मुनिराज में ये उवसम आदि महान् गुणों की जैसी-जैसी वृद्धि होती जाती है वैसे ही वैसे उनमें पात्रता भी बढ़ती जाती है। गुणों के आधार से पात्रता बढ़ती है।

मोक्षमार्ग में या लोक में गुणों की पूज्यता है, आचार्य कहते हैं—

ण वि देहो वंदिज्जइ, ण वि कुलो ण वि या जाइसंजुत्तो।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावओ होइ ॥२६॥अ.पा.द.पा.॥

न तो किसी शरीर की पूजा होती है, न कुल/पितृपक्ष पूजा जाता है,
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
ना जाति मातृपक्ष। किन्तु संयम रूप ही पूजा जाता है। जिसमें संयम नहीं है वह सुन्दर, स्वस्थशरीरधारी, उत्तमकुल-जाति वाला भी अपूजनीय रहता है। आचार्य कुन्दकुंद स्वामी कहते हैं— "मैं किसी भी गुणहीन की वन्दना नहीं कर सकता हूँ। क्योंकि संयम गुण से भ्रष्ट पुरुष न मुनि ही है न श्रावक ही है, फिर पात्र कैसे ? तात्पर्य यह है कि उपशम आदि उपरोक्त गुणों सहित मुनिराज ही उत्तम पात्र हैं।

अज्ञानी का तप

ण वि जाणइ जिण-सिद्ध-सरूवं तिविहेण तह णियप्पाणं।
जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ दीह-संसारे ।।११६।।

अन्वयार्थ—(जो) जो (जिण-सिद्ध-सरूवं) जिन/अरहंत देव, सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप को (तह) वैसे ही/तथा (णियप्पाणं) अपनी आत्मा को (वि) भी (तिविहेण) बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा रूप तीन भेद से (ण) नहीं (जाणइ) जानता है; और (तिव्वं) तीव्र घोर (तवं) तप (कुणइ) करता है (सो) वह (दीह-संसारे) दीर्घ संसार में (हिंडइ) परिभ्रमण करता है।

अर्थ—जो जीव अरहंत-सिद्ध-परमेष्ठी के स्वरूप को तथा अपनी आत्मा को बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा रूप तीन भेद से नहीं जानता है और तीव्र/घोर तप कायक्लेश, अनशन, ऊनोदर आदि करता है वह दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता है। अष्टपाहुड ग्रंथ में आचार्य कहते हैं—

बाहिर-संग-च्चाओ गिरि-सरि-दरि-कंदराइ आवासो।
सयलो णाण-ज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥८७॥भा.प्रा.॥

भाव सम्यक्त्व से रहित अर्थात् पंच परमेष्ठी अर्हंत सिद्ध के स्वरूप के ज्ञान रहित अथवा शुद्ध-बुद्धैक-स्वभाव से युक्त निज आत्मा की भावना से च्युत मुनियों का बाह्य परिग्रह का त्याग निरर्थक है, पर्वत के ऊपर

आतापन योग धारण करना, पर्वत पर रहना, नदी-तट पर तपस्या करना, गुफा, कंदरा आदि में निवास करना तथा श्मशान व उद्यान आदि में रहना निरर्थक है। और वाचना-पृच्छना-अनुप्रेक्षा-आम्नाय तथा धर्मोपदेश रूप सब प्रकार का ज्ञानाध्ययन-शास्त्र स्वाध्याय निरर्थक है। जैसा कि कहा है—

बाह्य ग्रंथ विहीनानां दरिद्र मनुजाः स्वभावतः सन्ति।
यः पुनरन्तः संगत्यागी लोके स दुर्लभो जीवः ॥१॥

अर्थात् दरिद्र मनुष्य तो बाह्य परिग्रह से रहित स्वयं होता ही है अर्थात् बाह्य परिग्रह के त्यागी मनुष्य दुर्लभ नहीं हैं, किन्तु जो अन्तरंग परिग्रह का त्यागी है, लोक में वही दुर्लभ है [अ.पा., पृ ४४५]।

पात्र–विशेष

दंसणसुद्धो धम्म-ज्झाण-रदो संग-वज्जिदो णिसल्लो।
पत्त-विसेसो भणियो सो गुण-हीणो दु विवरीदो ॥११७॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सम्माइ-गुण-विसेसं पत्त-विसेसं जिणेहिं णिद्दिट्ठं।
तं जाणिऊण देइ सुदाणं जो सो हु मोक्ख-रओ ॥११८॥(युग्मं)

अन्वयार्थ—(दंसण सुद्धो) सम्यग्दर्शन से शुद्ध (धम्म-ज्झाण-रदो) धर्मध्यान में रत (संग-वज्जिदो) परिग्रह से रहित (णिसल्लो) शल्य रहित (पत्त-विसेसो) विशेषपात्र (भणियो) कहे गये हैं (गुण-हीणो) जो इन गुणों से रहित हैं (सो दु) वे तो (विवरीदो) विपरीत/अपात्र हैं।

(सम्माइ-गुण-विसेसं) जिसमें सम्यक्त्वादि विशेष गुण हैं—वह (जिणेहिं) जिनेन्द्र देव (पत्त–विसेसं) विशेष पात्र (णिद्दिट्ठं) कहा है (जो) जो जीव (तं) उस पात्रविशेष को (जाणिऊण) जानकर (सुदाणं) उत्तम दान, निर्दोष दान को (देइ) देता है (सो हु) निश्चय ही वह मोक्षमार्ग में रत है।

अर्थ—जो निर्दोष सम्यग्दर्शन अर्थात् २५ दोषों रहित निर्मल सम्यक्त्व

से शुद्ध सम्यग्दृष्टि धर्म्यध्यान में रत, निष्परिग्रही–बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह से रहित और माया, मिथ्या, निदान तीन शल्यों से रहित हैं, वे विशेष पात्र कहे गये हैं। जो गुणों से रहित हैं, वे विपरीत अर्थात् अपात्र हैं।

जिनमें सम्यक्त्वादि विशेष गुण हैं वे जिनेन्द्रदेव के द्वारा विशेष पात्र कहे गये हैं। जो व्यक्ति उन पात्रविशेष को जानकर सुदान/विधिवत् निर्दोष दान देता है वह मोक्षमार्ग में रत है।

जो सम्यक्त्व व चारित्र अथवा रत्नत्रय युक्त हैं वे पात्र हैं
जो सम्यक्त्व रहित चारित्र सहित हैं वे कुपात्र हैं तथा
जो सम्यक्त्व व चारित्र दोनों से रहित हैं वे अपात्र हैं। [सा.ध.]

उभयनय–विरोधी

णिच्छय-ववहार सरुवं जो रयण-त्तयं ण जाणइ सो।
जं कीरइ तं मिच्छा-रूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं ।।११९।।

अन्वयार्थ—(जो) जो (णिच्छय-ववहार सरूवं) निश्चय और व्यवहार स्वरूप वाले (रयण-त्तयं) रत्नत्रय को (ण) नहीं (जाणइ) जानता है (सो) वह (जो) जो (कीरइ) करता है (तं सव्वं) वह सब (मिच्छा-रूवं) मिथ्यारूप है (जिणुद्दिट्ठ) ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अर्थ—जो निश्चय और व्यवहार स्वरूप रत्नत्रय को नहीं जानता है, वह जो करता है, वह मिथ्यारूप है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

वस्तु के एक अभिन्न और स्वाश्रित– पर निरपेक्ष त्रैकालिक स्वभाव को जानने वाला निश्चयनय है और भेद रूप वस्तु तथा उसके पराश्रित-पर सापेक्ष परिणमन को जानने वाला व्यवहारनय है।

लोक में सोने के १६ ताव प्रसिद्ध हैं। जब तक सोना में परसंयोग की कालिमा है, तब तक वह अशुद्ध कहा जाता है। और फिर ताव देते-देते अन्तिम ताव से उतरते ही सोहलवान शुद्ध स्वर्ण कहलाता है। जिन जीवों को सोलहवान सोने का ज्ञान, श्रद्धान, प्राप्ति हो चुकी है, उसके

लिए १४-१५ ताव दिया सोना कुछ प्रयोजनीय नहीं है। और जिसे सोलहवान स्वर्ण की जब तक प्राप्ति नहीं हुई है तब १४-१५ ताव दिया गया सोना भी प्रयोजनवान होता है। उसी प्रकार जिस जीव को शुद्ध ज्ञायक स्वभाव की प्राप्ति हो गई है उसको व्यवहारनय का प्रयोजन नहीं है; किन्तु जिनको जब तक शुद्ध भाव की प्राप्ति नहीं हुई है, तब तक यथायोग्य प्रयोजनवान् है। व्यवहार को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है, यदि कोई सर्वथा असत्यार्थ जान इसे छोड़ दे, तो शुभोपयोग–पूजा, भक्ति, स्वाध्याय आदि परद्रव्य का आलंबन छोड़ने रूप अणुव्रत, महाव्रत, समिति आदि का पालन या धारण करना भी छोड़ देगा। क्योंकि शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई, इसलिये अशुभोपयोग में ही आकर भ्रष्ट हुआ, यथेच्छ प्रवृत्ति करेगा तब नरक-निगोद को प्राप्त कर संसार भ्रमण करेगा। इस कारण शुद्धनय का विषय शुद्ध-आत्मा की प्राप्ति जब तक न हो तब तक व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शुद्ध नय निश्चयनय शुद्ध स्वर्ण-अवस्था के समान जाना हुआ प्रयोजनीय है तथा शुद्ध स्वर्ण अवस्था का अनुभव नहीं होने से उस काल में जाना हुआ व्यवहारनय ही प्रयोजनवान है। इस प्रकार अपने-अपने समय पर दोनों ही नय कार्यकारी हैं क्योंकि एक व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ-व्यवहार मार्ग का लोप हो जायेगा और तत्त्वनय के बिना वस्तु, का नाश हो जायेगा। अत: हे भव्यात्माओं, यदि तुम जैनधर्म का प्रवर्तन चाहते हो, संसार से तिरना चाहते हो तो निश्चय-व्यवहार दोनों नयों को मत छोड़ो।

भवबीज

किं जाणिऊण सयलं, तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं।
सम्म-विसोही-विहीणं, णाण-तवं जाण भववीयं ।।१२०।।

अन्वयार्थ—(सयलं तच्चं जाणिऊण किं) सम्पूर्ण तत्त्वों को जानकर क्या लाभ है (च) और (बहुलं तवं किच्चा किं) बहुत प्रकार के तप करने से भी क्या लाभ है (सम्म-विसोही विहीणं)

सम्यक्त्व की विशुद्धि से रहित (णाण-तवं-भववीयं जाण) ज्ञान-तप को संसार का बीज जानो।

अर्थ—सम्पूर्ण-सप्त-तत्वों को जानकर क्या लाभ ? बहुत प्रकार के तप करने से भी क्या लाभ है ? सम्यक्त्व की विशुद्धि से रहित जीव के ज्ञान और तप को संसार का बीज जानो। यहाँ जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि हे भव्यजीवों ! सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को धारण करो। यह सम्यक्दर्शन रूपी रत्न उत्तम क्षमादि गुणों तथा सम्यग्दर्शनादि तीनों रत्नों में श्रेष्ठ है और मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है।

संसार की वृद्धि

वय-गुण-सील-परीसह-जयं च चरियं तवं छडावसयं।
झाण-ज्झयणं सव्वं सम्म विणा जाण भव-वीयं ।।१२१।।

अन्वयार्थ—(वय-गुण-सील-परीसह-जयं) व्रत, गुण, शील, परीषह-जय (चरियं) चारित्र (तवं) तप (छडावसयं) षट् आवश्यक (च) और (झाण-ज्झयणं) ध्यान-अध्ययन से (सव्वं) सब (सम्म विणा) सम्यक्त्व के बिना (भव-वीयं) संसार के बीज (जाण) जानो।

अर्थ—अणुव्रत-महाव्रत, अनेक प्रकार के गुण, ७ शील, २२ परीषहों का जय, १३ प्रकार का चारित्र, १२ प्रकार का तप, छह आवश्यक, ध्यान-अध्ययन आदि ये सब क्रियाएँ एक सम्यक्त्व के बिना संसाररूपी वृक्ष का बीज जानो।

जो जीव बड़े-बड़े व्रतों को करता है, अनेक गुणों से भी मंडित है, तपस्वी कहलाता है पर सम्यग्दर्शन से रहित है; वह कभी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप इन चार आराधनाओं को प्राप्त नहीं होता है। जैसा कि कहा है—

'चेतन चित परिचय बिन जप-तब सबै निरत्थ।
कण बिन तुष जिम फटकतै कछु न आवे हत्थ'' ॥

जिस प्रकार कण रहित तुष को फटकना व्यर्थ है वैसे ही सम्यक्त्व रहित किया गया जप-तप आदि सब व्यर्थ है; संसार का बीज ही है।

परलोक कैसे सुधरेगा ?

खाई-पूया-लाहं, सक्का-राइं किमि-च्छसे जोई।
इच्छसि जइ परलोयं, तेहिं किं तुज्झ परलोयं।।१२२।।

अन्वयार्थ—(जोई) हे योगी (जइ परलोयं इच्छसि) यदि परलोक की इच्छा करता है तो (खाई-पूया-लाहं) ख्याति-पूजा-लाभ (सक्का-राइं) सत्कार आदि को (किमि-च्छसे) इच्छा क्यों करता है ? (किं) क्या (तेहिं) उनसे (तुज्झ) तुझे (परलोयं) परलोक मिलेगा [परलोक अच्छा मिलेगा ?]

अर्थ—यहाँ आचार्य देव कहते हैं—हे योगी ! तू परलोक सुधारने की इच्छा करता है तो ख्याति-पूजा-लाभ-सत्कार आदि की इच्छा क्यों करता है, क्या इस प्रकार ख्याति-पूजा-लाभ-सत्कार की भावना करते हुए तेरा परलोक सुधर सकेगा, परलोक अच्छा मिलेगा ? [नहीं, परलोक बिगड़ेगा ही]

जिस प्रकार चन्द्रमा यह इच्छा रखकर उदित नहीं होता कि मैं समुद्र को लहरों से भर दूँ, पर उसका वैसा स्वभाव ही है कि चन्द्रमा के उदय होते ही समुद्र में लहरें उठने लगती हैं। उसी प्रकार ख्याति-पूजा लाभ की इच्छारहित योगी के गुणों का स्वभाव ही है कि उनका जग में प्रसिद्धि, आदर, पूजा आदि होता है। सूर्य का उदय हुआ है तो प्रकाश फैलेगा ही, फूल आया है तो सुगंधी फैलेगी ही। निर्मल सम्यक्त्व गुण सहित साधु का परलोक सुधरता ही है इसमें कोई संशय नहीं। किन्तु हे योगी ! तू संसार प्रपंच में पड़ा ख्याति-पूजा-लाभ को इष्ट मानता हुआ परलोक सुधारना चाहता है तो तेरा परलोक बिगड़ेगा ही। तू इधर से भी गया उधर से भी गया। जैसे रेत को पेलने से तेल नहीं निकल सकता, जल को मथने से मक्खन नहीं निकल सकता वैसे ही ख्याति-पूजा की भावना से रखने वाले योगी का परलोक कभी भी सुधर नहीं सकता। कहा भी है—

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देह दाह।
आत्म अनात्म के ज्ञान ही, जे जे करणी तन करन छीन ।।

उभय भावों को जानकर अपनी शुद्धआत्मा में रुचि करो

कम्माद-विहाव-सहाव-गुणं जो भाविऊण भावेण ।
णिय-सुद्धप्पा रुच्चइ तस्स य णियमेण होइ णिव्वाणं ।।१२३।।

अन्वयार्थ—(जो) जो मुनि (कम्माद विहाव-सहाव गुणं) कर्म-जनित विभाव व कर्मों के क्षय से प्राप्त स्वभाव गुणों को (भावेण) भावपूर्वक (भाविऊण) भाकर, मनन चिंतन कर (णिय-सुद्धप्पा) अपने शुद्धात्मा में (रुच्चइ) रुचि करता है (तस्स य) उसका ही (णियमेण) नियम से (णिव्वाण) निर्वाण (होइ) होता है।

अर्थ—जो मुनि कर्मोदय से होने वाले विभाव भाव व कर्मों के क्षय से उत्पन्न स्वाभाविक आत्म गुणों की भावना कर, उनका चिंतन मनन-कर, अपनी शुद्ध आत्मा में रुचि करता है उसका ही नियम से निर्वाण होता है/वही नियम से मुक्ति को पाता है।

समयसार कलश में आचार्य देव कहते हैं—

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-मापूर्ण-माद्यन्त विमुक्त-मेकं ।
विलीन संकल्प-विकल्प-जालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ।।१०।।

हे योगी ! आत्मा का स्वभाव परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होने वाले अपने विभाव इस तरह के परभावों से भिन्न है। जो इसको परभाव से भिन्न प्रकट करता है, वह समस्त रूप से पूर्ण सब लोकालोक को जानने वाले निज स्वभाव को प्रकट करता है, तथा आदि अन्त से रहित ऐसे परपारिणामिक भाव को प्रकट करता है। तभी सब भेदभावों से रहित एकाकार तथा जिसमें समस्त संकल्प-विकल्पों के समूह का विलय/नाश हो गया, ऐसा शुद्धनय प्रकाश रूप होता है।

हे योगी ! द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्य में आत्मा की कल्पना रूप संकल्प को और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद की प्रतीति

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

रूप विकल्प का त्याग कर निज शुद्धात्मा में रुचि करो यही नियम से निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग है।

कर्म रहित मुक्तात्मा जानते हैं

मूलु-त्तरु-त्तरु-त्तर दव्वादो भाव-कम्मदो मुक्को।
आसव-बंधण-संवार-णिज्जर जाणेइ किं बहुणा ।।१२४।।

अन्वयार्थ—(मूलु-त्तरु-त्तरु-त्तर) मूल प्रकृतियाँ, उत्तर प्रकृतियाँ और उत्तरोत्तर प्रकृति रूप द्रव्यकर्म से (भाव-कम्मदो) भाव कर्म से (मुक्को) मुक्त जीव (आसव-बंधण-संवर-णिज्जर जाणेइ) आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा तत्त्वों को जानता है (बहुणा किं) बहुत कहने से क्या लाभ है ?

अर्थ—द्रव्य-कर्म वास्तव में एक है, मूल प्रकृतियों की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का है, उत्तर प्रकृतियाँ मतिज्ञानावरण आदि की अपेक्षा १४८ प्रकार का है तथा परिणामों की विविधता की अपेक्षा संख्यात-असंख्यात, अनन्त प्रकार का है; ऐसे द्रव्यकर्म और राग-द्वेष-मोह-मिथ्या आदि भाव कर्मों से मुक्त जीव/सिद्ध परमात्मा आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तत्त्वों को जानते हैं।, अधिक कहने से, कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। [अलं विस्तरेण]

बंध व मुक्ति के भाव

विसय-विरत्तो मुञ्चइ, विसयासत्तो ण मुंचए जोई।
बहिरंतर-परमप्पा-भेयं, जाणहि[1] किं बहुणा ।।१२५।।

अन्वयार्थ—(विसय-विरत्तो जोई) विषयों से विरक्त योगी (मुञ्चइ) कर्मों से छूटता है (विसयासत्तो) विषयों में आसक्त (ण) नहीं (मुंचए) छूटता है। (बहिरंतर-परमप्पा भेयं) बहिरात्मा-अन्तरात्मा व परमात्मा के भेदों को (जाणहि) जानो (किं बहुणा) बहुत कहने से क्या लाभ ?

१. जाणेह भी पाठ है [ब प्रति]

अर्थ—विषयों से विरक्त योगी कर्मों से छूटता है विषयासक्त कर्मों से बँधता है। हे योगी ! बहिरात्मा-अन्तरात्मा व परमात्मा के भेदों को जानो। बहुत कहने से क्या लाभ ?

जिस प्रकार निज स्वभाव के कारण कमलिनी का पत्ता पानी से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार विषयों से विरक्त मुनि/योगी विषय-वासनाओं में लिप्त न होकर मुक्ति को पाता है। और कहा भी है—

"रत्तो बंधदि कम्मं मुञ्चदि जीवो विराग संपण्णो"।

आचार्य देव कहते भी है—संसार में वे ही धन्य है, वे ही सत्पुरुष है और वे ही जीवित हैं जो यौवनरूपी गहरे तालाब में गिरकर भी लीला मात्र से उसे पार कर लेते हैं। विषयों के आधीन नहीं होते हैं।

हे योगी ! आत्मा की तीन अवस्थाएँ बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा। आत्मा जब तक मिथ्यात्व अवस्था में है तब तक बहिरात्मा है, मिथ्यात्व का विनाश होने पर सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरात्मा हैं। तथा ४ घातिया कर्म से रहित अरहंत परमेष्ठी व ८ कर्मरहित सिद्ध परमेष्ठी परमात्मा हैं इनको जानो।

बहिरात्मा का लक्षण

णिय-अप्प-णाण-झाण-ज्झयण-सुहा-मिय रसायणं पाणं।
मोॅत्तूण-क्खाण-सुहं, जो भुञ्जइ सोहु बहि-रप्पा ।।१२६।।

अन्वयार्थ—(जो) जो (णिय-अप्प-णाण-झाण-ज्झयण-सुहा-मिय-रसायणं पाणं) अपनी आत्मा के ज्ञान, ध्यान, अध्ययन और सुखरूपी अमृत को (मोॅत्तूण) छोड़कर (अक्खाण-सुहं) इन्द्रिय सुखों को (भुञ्जइ) भोगता है (सो हु) वह निश्चय से (बहि-रप्पा) बहिरात्मा है।

अर्थ—जो जीव अपनी आत्मा के ज्ञान, ध्यान, अध्ययन और शाश्वत सुखीरूपी अमृत को छोड़कर इन्द्रिय सुखों को भोगता है, वह निश्चय से बहिरात्मा है।

मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत तत्त्वों का जैसा स्वरूप जिनदेव ने कहा है, उसको वैसा न मानने वाला मिथ्यादृष्टि जीव दुखदाई इन्द्रिय सुखों को सुखदाई समझकर आत्मानन्द को तो दूर से ही छोड़ता है और आत्मा के हितकारी ज्ञान वैराग्य, ध्यान, वैराग्य आदि पदार्थों को अहितकारी जान उनमें अरुचि और द्वेषरूप प्रवृत्ति करता है। वह विषयों की चाहरूप दावानल में दिन-रात जलता रहता है। अत: आत्मा को खो देता है और आकुलता रहित मोक्ष सुख खोजने का प्रयत्न नहीं करता। इस प्रकार द्रव्य और पर्याय के यथार्थ ज्ञान से रहित जीव बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है।

इन्द्रिय विषय किंपाक फलवत्

किंपाय फलं पक्कं विस-मिस्सिद मोदगिंद-वारुण-सोहं।
जिव्ह सुहं दिट्ठि-पिय, जह तह जाणक्ख-सोॅक्खं पि ।।१२७।।

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (पक्कं किंपाय-फलं) पका हुआ किंपाक फल (विष-मिस्सिद-मोदगिंद-वारुण-सोहं) विषमिश्रित मोदक/लड्डू, इन्द्रायण फल देखने में सुन्दर होते हैं, जिव्हा को सुख देते हैं (दिट्ठि-पिय) देखने में भी प्रिय लगते हैं (तह) वैसे ही (अक्ख सोॅक्खं पि) इन्द्रिय सुखों को भी (जाण) जानो।

अर्थ—जैसे पका हुआ किंपाक फल, विषमिश्रित लड्डू और इन्द्रायण फल ये देखने में सुन्दर होते हैं, जिव्हा को सुख देते हैं, नेत्रों को प्रिय लगते हैं वैसे इन्द्रिय सुखों को भी जानो। आचार्य कहते हैं—

यत्सुख तत्सुखाभासो, यद्दुखं तत्सदञ्जसा।
भवे लोका: सुखं सत्यं मोक्ष एवं स साध्यताम् ।।४७ प. पं.।।

हे जीव, संसार में संसार इन्द्रिय विषयों का जो सुख मालूम होता है, वह सुख नहीं है, सुखाभास है अर्थात् सुख के समान मालूम पड़ता है। इन्द्रिय सुख आकुलता का उत्पादक, विनाशी और पाक के समय दुखकर ही है। वास्तव में सुख वही है जिसके पीछे दुख न हो। कहा भी है—

भोग बुरे भव रोग बढ़ावै, बैरी हैं जग जीके।
बेरस होंय विपाक समय अति सेवत लागैं नीके।
वज्र अगिनि विष से विषधर से ये अधिके दुखदाई।
धर्मरतन के चोर चपल अति दुर्गति पंथ सहाई ।।वै.भा. ।।११।।

बहिरात्मपने की सामग्री

देह-कलत्तं पुत्तं, मित्ताइ विहाव-चेदणा रूवं।
अप्प-सरूवं भावइ सो चेव हवइ बहि-रप्पा ।।१२८।।

अन्वयार्थ—जो जीव (देह-कलत्त-पुत्तं) शरीर, स्त्री, पुत्र (मित्ताइ) मित्र आदि तथा (विहाव-चेदणा रूवं) विभाव चेतना रूप को (अप्प-सरूवं) आत्मा का स्वरूप (भावइ) भाता है (सो चेव) वह ही (बहि-रप्पा) बहिरात्मा (हवइ) होता है।

अर्थ—जो जीव शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि परशरीर/परद्रव्य को तथा राग-द्वेष आदि विभाव, चेतना/विभाव परिणामों को आत्मा का यही स्वरूप ऐसा मानता है वह बहिरात्मा, मिथ्यादृष्टि होता है।

बहिरात्मा/मिथ्यादृष्टि की मान्यता इस प्रकार की होती है —
मैं सुखी दुखी मैं रंक-राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग, मूरख प्रवीण ।।छ.ढा.२।।

बहिरात्मपने का भाव

इंदिय-विसय-सुहाइ सु मूढमई रमइ ण लहइ तच्चं।
बहु-दुक्ख-मिदि ण चिंतइ, सो चेव हवइ बहि-रप्पा ।।१२९।।

अन्वयार्थ—(मूढमई) अज्ञानी जीव (इंदिय-विसय-सुहाइ सु रमइ) पंचेन्द्रिय-विषयों के सुखादि में रम जाता है (बहु-दुक्ख-मिदि ण चिंतइ) ये इन्द्रिय सुख बहुत दुःखदायी हैं ऐसा चिंतन नहीं करता (सो) वह (तच्चं ण लहइ) तत्त्व को प्राप्त नहीं करता और (सो चेव) वह ही (बहि-रप्पा हवइ) बहिरात्मा होता है।

अर्थ—जो अज्ञानी जीव पंचेन्द्रिय विषयों के सुखादि में रम जाता

है। ये इन्द्रिय सुख बहुत दुःखदायी है ऐसा चिंतन नही करता अत: वह तत्त्व को प्राप्त नहीं करता वह ही बहिरात्मा होता है।

अर्थात् यह जीव अनादिकाल से आत्मस्वरूप से च्युत होकर इन्द्रियों के विषयों में पतित हुआ, पंचेन्द्रिय विषयों को उपकारक समझकर, आत्म तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाया। आचार्य कहते हैं जब तक इस जीव को चैतन्य स्वरूप का ज्ञान नही होता तब तक मूढमति जीव को इन्द्रिय विषय सुंदर, सरस, सुखदाई मालूम पड़ते हैं और यह बहिरात्मा अवस्था रचा-पचा अनन्तकाल तक दुखों को भोगता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

बहिरात्मपने का पुष्टीकरण

जं जं अक्खाण-सुहं तं तं तिव्वं करेइ बहु-दुक्खं।
अप्पाण-मिदि ण चिंतइ, सो चेव हवेइ बहि-रप्पा ।।१३०।।

अन्वयार्थ—(जं जं) जितने/जो जो (अक्खाण-सुहं) इन्द्रिय-सुख हैं (तं तं) वे-वे सब (अप्पाणं) आत्मा को (तिव्वं बहुदुक्खं) तीव्र, बहुत प्रकार के दुःखों को (करेइ) देते हैं (इदि) इस प्रकार जो (ण चिंतइ) चिंतन नहीं करता (सो चेव) वह ही (बहि-रप्पा) बहिरात्मा (हवेइ) होता है।

अर्थ—संसार में जितने भी इन्द्रिय सुख हैं, वे सब आनन्द के स्वामी आत्मा को नाना प्रकार के तीव्र दुःखों को देने वाले हैं, आत्मसुख के घातक हैं जो जीव इस प्रकार का विचार नहीं करता; वह बहिरात्मा है।

आचार्य देव कहते हैं मोह के उदय से जीवों की बुद्धि ऐसा विपरीत परिणमन होता है कि बहिरात्मा जीवों को इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण में आने वाले मूर्तिक पदार्थों में ही सुख भासता है। उसे आभ्यंतर आत्मतत्त्व की रुचि या ज्ञान ही नही होता। जिस प्रकार धतूरे का पान करने वाले पुरुष को सब पदार्थ पीले मालूम पड़ते हैं, उसी प्रकार बहिरात्मा के मोह के उदय में दुःखदायक इन्द्रिय सुख ही सुखद मालूम देते हैं। अत: वह आत्महित का विचार भी कैसे कर सकता है ?

बहिरात्म जीवों का विषय

जेसि अमेज्झ-मज्झे, उप्पण्णाणं हवेइ तत्थ रुई ।
तह बहि-रप्पाणं बहि-रिंदिय-विसएसु होइ मई ।।१३१।।

अन्वयार्थ—(जेसिं) जैसे (अमेज्झ-मज्झे) विष्टा में (उप्पण्णाणं) उत्पन्न जीवों की/ कीड़ों की (रुई) रुचि (तत्थ हवेइ) उसी विष्टा में होती है (तह) उसी प्रकार (बहि-रप्पाणं) बहिरात्मा जीवों की (मई) बुद्धि (बहिरिंदिय-विसएसु) बाह्य इंद्रिय विषयों में (होइ) होती है।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ—जैसे विष्टा में उत्पन्न जीवों की रुचि विष्टा में ही होती है उसी प्रकार बहिरात्मा जीवों की बुद्धि बाह्य इन्द्रिय विषयों में होती है। अर्थात् विष्टा का कीड़ा जिस योनि में उत्पन्न होता है उसी में प्रेम करने लग जाता है वैसे ही बहिरात्मा अनादिकाल से जिस संसार में रचा-पचा है उसी में इन्द्रिय विषयों में प्रेम करता है। उसी में बुद्धि को लगाता है। ''जहाँ का कीड़ा वहीं सुखी''।

बहिरात्मा की विवेकहीनता

पूय-सूय-रसाणाणं, खारामिय-भक्ख-भक्ख णाणं पि ।
मणु जाइ जहा मज्झे, बहि-रप्पाणं तहा णेयं ।।१३२।।

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (मणु जाइ) मनुष्य जाति (पूय-सूय-रसाणाणं) अपवित्र और खाने योग्य रसों में (खारामिय) क्षार और अमृत में (भक्ख-भक्ख पि) भक्ष्य और अभक्ष्य (मज्झे पि) मध्य भी (णाणं) विवेक नहीं करती (तहा) उसी प्रकार (बहि-रप्पाणं) बहिरात्मा को (णेय) जानना चाहिये।

अर्थ—जैसे मनुष्य जाति अपवित्र (अखाद्य) और खाद्य रसों, क्षार और अमृत, भक्ष्य और अभक्ष्य के मध्य (विवेक नहीं करती) उसी प्रकार बहिरात्मा को जानना चाहिये। वह भी आत्मा, अनात्मा के मध्य विवेक नहीं करता।

अन्तरात्मा के लक्षण

सिविणे वि ण भुंजइ विसयाइं देहाइ भिण्ण-भाव-मई ।
भुंजइ णियप्प-रूवो सिव-सुह-रत्तो दु मज्झि-मप्पो सो ॥१३३॥

अन्वयार्थ—(देहाइ भिण्ण-भाव-मई) शरीर आदि से भिन्न आत्मा में बुद्धि है जिसकी जो (सिविणे वि ण विसयाइं भुंजइ) स्वप्न में भी विषयादि को नहीं भोगता है । (णियप्प-रूवो) आत्मा के निज स्वरूप को (भुंजइ) भोगता है/अनुभव करता है (दु) और (सिव-सुह -रत्तो) शिवसुख में रत है (सो) वह (मज्झि-मप्पो) मध्यम-आत्मा/अन्तरात्मा है ।

अर्थ—जो अपनी आत्मा को शरीर आदि परद्रव्यों से भिन्न मानता है, स्वप्न में भी इन्द्रियादि के विषयों को नही भोगता है; जो निजात्मा के स्वरूप को भोगता है, उसी का अनुभव करता है, मुक्ति-सुख में रत है; वह मध्यम आत्मा/अन्तरात्मा है ।

पूज्यपाद स्वामी कहते हैं—

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः ।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥६१॥ स.श.॥

अन्तरात्मा विचार करता है कि जब ये शरीर जड़ है—इसे सुख-दुख का कोई अनुभव नहीं होता और न ये किसी के निग्रह-अनुग्रह को ही कुछ समझता है तब इसमें अपनत्व की बुद्धि धारण करना मूढ़ता ही है । मैं तो ज्ञानी चैतन्य हूँ, ये परद्रव्य मुझ से अत्यंत भिन्न है । अतः उसकी शरीर के प्रति, विषयों के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है । उसका यह विचार ही उसे शरीर, को वस्त्राभूषणों आदि से अलंकृत, मंडित करने में उदासीन बनाये रखता है तथा विषय-वासनाओं से भी उदासीन बनाये रखता है । अतः वह आत्मस्वरूप का अनुभव करता हुआ शिवसुख की प्राप्ति में ही रत रहता है ।

"मध्यम अन्तर आतम है जे देशव्रती अणगारी" ॥छ.ढा.॥

अनादिकालीन दुर्वासना

मल-मुत्त-घडत्व चिरं वासिय दुव्वासणं ण मुञ्चेइ ।
पक्खालिय सम्मत्तजलो य णाण-मियेण पुण्णो वि ।।१३४।।

अन्वयार्थ—यह जीव (सम्मत्त-जलो) सम्यक्त्व रूपी जल से (पक्खालिय) प्रक्षालित करने पर (य) और (णाण-मियेण) ज्ञानामृत से (पुण्णो वि) पूर्ण होने पर भी (चिरं वासिय) चिरकाल से दुर्गंधित/दुर्वासित (मल-मुत्त-घडव्व) मल-मूत्र से भरे घड़े के समान (दुव्वासणं) दुर्वासना को (ण मुञ्चेइ) नहीं छोड़ता है।

अर्थ—जिस प्रकार चिरकाल से दुर्गंधित मल-मूत्र से भरे घड़े को पानी से अनेक बार धोने पर भी, घड़े की दुर्गंध नहीं जाती, उसी प्रकार अनादिकाल से मिथ्यात्वरूपी मल से दुर्वासित इस जीव की दुर्वासना सम्यक्त्वरूपी जल से धोने पर व ज्ञान से पूर्ण होने पर भी नहीं छूटती।

अन्तरात्मा के आत्मा का अनुभव करते हुए भी शरीरादि परद्रव्यों में अभेद भ्रांति हो जाती है। पहली बहिरात्मावस्था में होने वाले भ्रांति के संस्कारवश वह पुनः भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है। जैसा कि कहा है—

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं, विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्व विभ्रमसंस्काराद् भ्रांति भूयोऽपि गच्छति ।।४५।।

अर्थात् यद्यपि अन्तरात्मा अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है, उसी का अनुभव करता है। शरीरादि परद्रव्यों से इसे भिन्न अनुभव भी करता है। फिर भी बहिरात्मा-अवस्था के चिरकालीन संस्कारवश/संस्कारों के जागृत हो उठने के कारण कभी-कभी बाह्य पदार्थों में उसे एकत्व का भ्रम हो जाता है। इसी से अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि के ज्ञान चेतना के साथ कदाचित् कर्मचेतना व कदाचित् कर्मफलचेतना का भी सद्भाव माना गया।

सम्यग्दृष्टि के भोग में अनासक्ति

सम्माइट्ठी णाणी अक्खाण-सुहं कहं पि अणु-हवइ ।
केणावि ण परिहरणं, वाहीण-विणास-णट्ठं भेसज्जं ।।१३५।।

अन्वयार्थ—(सम्माइट्ठी णाणी) सम्यग्दृष्टि ज्ञानी (कहं पि) किसी प्रकार/अनिच्छापूर्वक/अनासक्ति से (अक्खाण-सुहं अणु-हवइ) इन्द्रियों के सुख का अनुभव करता है/भोग करता है; क्योंकि (वाहीण-विणास-णट्ठं) रोग को दूर करने के लिए (भेसज्जं) औषधि को (केणावि) किसी के द्वारा (ण परिहरणं) छोड़ी नहीं जाती।

अर्थ—जिस प्रकार रोग दूर करने के लिए किसी के भी द्वारा औषधि को कोई नही छोड़ता, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी अनिच्छापूर्वक/अनासक्ति से इन्द्रिय सुखों का अनुभव करते हैं।

आचार्य कहते हैं जैसे कमल-पत्र कीच से लिप्त नहीं होता वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्रदेव के चरण-कमलों की भक्तिरूपी सम्यक्त्व के कारण इन्द्रिय सुखों में लिप्त नहीं होता। जैसा कि कहा है—

धात्रीबालाऽसतीनाथपद्मिनीदलवारिवत् ।
दग्धरज्जुवदाभासं भुञ्जन् राज्यं न पाप भाक् ॥

सम्यग्दृष्टि जीव धात्रीबाल, असतीनाथ, कमलिनी पत्र पर स्थित जल और जली हुई रस्सी के समान राज्य का उपभोग करता हुआ भी पापी नही होता। जिस प्रकार धाय बालक का लाल-पालन करती हुई भी उसे अपना बालक नहीं मानती है, जिस प्रकार पुरुष अपनी दुश्चरित्रा स्त्री से संबंध रखता हुआ भी उससे विरक्त रहता है, जिस प्रकार कमलिनी के पत्र पर पड़ा हुआ पानी उस पर रहता हुआ भी उससे भिन्न रहता है और जली हुई रस्सी जिस प्रकार ऊपर से भांज को लिये हुए दिखती है परन्तु भीतर से अत्यंत निर्बल रहती है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रिय सुखों का उपभोग करता हुआ भी अन्तरंग में आसक्त नहीं होता, अतः पापी नहीं कहलाता।

परमात्मावस्था-प्राप्ति का उपाय

किं बहुणा हो तजि बहि-रप्प-सरूवाणि सयल भावाणि।
भजि मज्झिम परमप्पा वत्थु-सरूवाणि भावाणि ॥१३६॥

अन्वयार्थ—(हो) अहो/हे भव्य ! (किं बहुणा) बहुत कहने

से क्या लाभ ?(बहिरप्प-सरूवाणि) बहिरात्म-स्वरूप (सयल भावाणि तजि) सकल भावों को छोड़ तथा (मज्झिम-परमप्पा) मध्यमात्मा परमात्मा के (वत्थु-सरूवाणि) वस्तु स्वरूप (भावाणि) भावों को (भजि) भज।

अर्थ— हे भव्यात्मन् ! अधिक कहने से क्या लाभ ? [संक्षेप में] तुम बहिरात्म स्वरूप समस्त विभाव/विकार भावों को छोड़ो और मध्यमात्मा व परमात्मा के वस्तुस्वरूप भावों को भजो।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आत्मा की तीन अवस्थाएं हैं, उनमें अन्तरात्मा के उपाय द्वारा परमात्मा को अंगीकार करें, अपनावें और बहिरात्मा को छोड़ें। कहा भी है—

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ।।४।। स.श.।।

तात्पर्य यह है कि आत्मा की इन तीन अवस्थाओं में जिनकी परद्रव्य में आत्म-बुद्धिरूप बहिरात्मावस्था हो रही है, उनको प्रथम ही सम्यक्त्व प्राप्त कर विपरीताभिनिवेशमय बहिरात्मावस्था का त्याग करना चाहिये और मोक्षमार्ग की साधक अन्तरात्मावस्था में स्थिर होकर आत्मा की स्वाभाविक वीतराग-मयी परमात्मावस्था को व्यक्त करने का उपाय करना चाहिये।

दुख का कारण बहिरात्म भाव

चउगइ-संसार-गमण-कारण-भूयाणि दुक्ख-हेऊणी।
ताणि हवे बहि-रप्पा वत्थु-सरूवाणि भावाणि ।।१३७।।

अन्वयार्थ—(बहि-रप्पा) बहिरात्मा जीव के (वत्थु-सरूवाणि भावाणि) वस्तुस्वरूप सम्बन्धी जो भाव हैं (ताणि) वे सब (चउगइ-संसार-गमण-कारण भूयाणि) चतुर्गति रूप संसार-परिभ्रमण के कारण हैं; और (दुक्ख-हेऊणी) दुःख के कारण (हवे) होते हैं।

अर्थ—बहिरात्मा जीव के वस्तुस्वरूप संबंधी जो भाव हैं वे सब चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण के कारण हैं और दुख के हेतु होते हैं।

बहिरात्मा जीव के अनादिकालीन अविद्या के कारण कर्मोदयजन्य पर्यायों मे आत्म-बुद्धि बनी रहती है। कर्मोदय से जिस भी पर्याय को प्राप्त होता है, उसी को अपना आत्मा समझ लेता है और इस तरह उसका यह अज्ञानात्मक संस्कार/वस्तु स्वरूप संबंधी विपरीत भाव जन्म-जन्मान्तरों में भी बना रहने से दृढ़ होता चला जाता है। जिस प्रकार पत्थरों पर रस्सी आदि की नित्य रगड़ से उत्पन्न चिह्न बड़ी कठिनता से दूर करने में आते हैं, उसी प्रकार आत्मा में हुए इन संस्कारों को दूर करना कठिन हो जाता है। इसी से बहिरात्मा को चतुर्गति रूप संसार में बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं।

अन्तरात्मा-परमात्मा के भाव मुक्ति के कारण

मोंक्ख-गइ-गमण-कारण-भूयाणि, पसत्थपुण्ण-हेऊणि।
ताणि हवे दुविहप्पा, वत्थु-सरूवाणि भावाणि ।।१३८।।

अन्वयार्थ—(दुविहप्पा) दो प्रकार की आत्मा-अन्तरात्मा व परमात्मा के (वत्थु-सरूवाणि-भावाणि) वस्तु-स्वरूप सम्बंधी जो भाव हैं (ताणि) वे सब (मोंक्ख-गइ-गमण-कारण-भूयाणि) मोक्षगति में ले जाने के कारणभूत और (पसत्थ-पुण्ण-हेऊणि) प्रशस्त पुण्य के कारण (हवे) होते हैं।

अर्थ—अन्तरात्मा और परमात्मा के वस्तुस्वरूप संबंधी भाव मोक्ष गति में ले जाने के कारणभूत और प्रशस्त पुण्य के कारण होते हैं।

अर्थात् अन्तरात्मा का भाव तो प्रशस्त पुण्य का कारण है और परम्परा मुक्ति का हेतु है। कहा भी है—

सम्माइट्ठी पुण्णं ण होइ संसार कारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जह वि णियाणं ण सो कुणइ ।।४०४।। भा.सं.।।

सम्यग्दृष्टि/अन्तरात्मा का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं होता है। उसका प्रशस्त पुण्य मोक्ष का ही कारण होता है यदि वह निदान नहीं करे।

तथा परमात्मा के दो भेद हैं—सकल परमात्मा व निकल परमात्मा। उनमें निकल परमात्मा/सिद्ध भगवान् तो मोक्षरूप ही हैं तथा सकल परमात्मा/

अरहंत देव चार घातिया कर्मों के क्षय से "जीवन्मुक्त" कहलाते है, वे भी कथंचित् मोक्षरूप ही हैं। क्योंकि निकट समय में पूर्ण मुक्ति को प्राप्त होने ही वाले हैं। उनके वस्तुस्वरूप संबंधी भाव मुक्ति मे ले जाने वाले है।

उभय-समय ज्ञाता गति

दव्व-गुण-पज्जयेहिं जाणइ पर-सग-समयादि-विभेयं।
अप्पाणं जाणइ सो, सिव-गइ-पह-णायगो होइ।।१३९।।

अन्वयार्थ—जो (पर-सग समयादि विभेयं) स्व-समय और पर समय आदि के भेद को (दव्व-गुण-पज्जयेहिं) द्रव्य-गुण-पर्यायों के द्वारा (जाणइ) जानता है (सो) वह (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (जाणइ) जानता है; वही (सिव-गइ-पह-णायगो) मोक्षगति के मार्ग का नायक/मुक्ति-पथ नायक (होइ) होता है।

अर्थ—जो जीव स्व-समय और परसमय आदि के भेद को द्रव्य, गुण, पर्यायों के द्वारा जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है तथा वही मुक्ति पथनायक/मोक्षमार्ग का नेता होता है।

जीव नामक वस्तु को पदार्थ कहा है। जीव नामा पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है। दर्शन-ज्ञान मय चेतना स्वरूप है, अनन्तधर्म स्वरूप द्रव्य है। द्रव्य होने से वह वस्तु है, गुण-पर्यायवान् है। स्व-पर प्रकाशक है, चैतन्य गुण स्वरूप है। वह अन्य द्रव्यों से एक क्षेत्रावगाह रूप स्थित है तो भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। ऐसा जीव नामक पदार्थ "समय" है। यह जीव नामा पदार्थ जो कि "समय" है; जब अपने स्वभाव में स्थित होता है तब तो वह स्व-समय है और जब कर्मप्रदेशों में स्थित होता हुआ, पर-स्वरूप राग-द्वेष-मोह स्वरूप परिणमन करता है तब परसमय हैं। आचार्यदेव समयसार में लिखते हैं—

जीवो चरित्तदंसण-णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्म पदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥२॥स.सा.॥

हे भव्य ! जो जीव दर्शन-ज्ञान और चारित्र में स्थिर हो रहा है उसे निश्चय से स्व-समय जानो और जो जीव पुद्गल कर्म के प्रदेशों में तिष्ठा हुआ है, उसे पर-समय जानो।

स्व-समय कौन ? केवल परमात्मा

बहिरंत-रप्प-भेयं पर-समयं भण्णए जिणिंदेहिं ।
परमप्पा सग-समयं, तब्भेयं जाण गुणठाणे ।।१४०।।

अन्वयार्थ—(जिणिंदेहिं) जिनेन्द्र भगवान् ने (बहिरंत-रप-भेयं) बहिरात्मा और अन्तरात्मा इन भेदों को (परसमयं) पर समय (भण्णए) कहा है (परमप्पा सग-समयं) परमात्मा स्वसमय है (तब्भेयं) उनके भेद (गुणठाणे) गुणस्थानों की अपेक्षा (जाण) जानो।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने बहिरात्मा और अन्तरात्मा को पर-समय और परमात्मा को स्व-समय कहा है। उनके भेद गुणस्थानों की अपेक्षा जानो।

आचार्य देव ने बहिरात्मा और अन्तरात्मा दोनों को ही पर-समय कहा। बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव तो पर-समय है ही परन्तु अन्तरात्मा को परसमय क्यों कहा ?

अन्तरात्मा जीव अभी दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर नहीं है; रत्नत्रय की पूर्णता, उसमें स्थिरता के बिना स्व-समय संज्ञा नहीं बनती।

अरहंत व सिद्ध परमात्मा अपने रत्नत्रय में स्थिर हैं, रत्नत्रय की पूर्णता से सम्पन्न है अत: अरहंत सिद्ध परमात्मा ही स्वसमय है।

गुणस्थानों की अपेक्षा आत्मा का वर्गीकरण

मिस्सो त्ति बहि-रप्पा, तर-तमया तुरियं अंत-रप्प जहण्णो ।
संतो त्ति मज्झि-मंतर खीणुत्तम परम जिण-सिद्धा ।।१४१।।

अन्वयार्थ—(मिस्सो त्ति) प्रथम गुणस्थान से मिश्र गुणस्थान तक के जीव (बहिरप्पा) बहिरात्मा है। (तर-तमतया) विशुद्धि

के तारतम्य की अपेक्षा से (तुरिय अंतरप्प जहण्णो) चौथे गुणस्थानवर्ती जघन्य अन्तरात्मा है (संतो त्ति) पंचम गुणस्थान से उपशान्त कषाय गुणस्थान पर्यन्त (मज्झि-मंतर) मध्यम अन्तरात्मा हैं तथा (खीणुत्तम) क्षीणमोह गुणास्थानवर्ती उत्तम अन्तरात्मा हैं और (जिण-सिद्धा) १३वें १४वें गुणस्थानवर्ती अरहंत-सयोग-केवली तथा अयोगकेवली और सिद्ध परमेष्ठी परमात्मा हैं।

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र तीन गुणस्थानों में जीव बहिरात्मा हैं। विशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा चतुर्थ अविरत गुणस्थान में जीव जघन्य अन्तरात्मा है। पंचम देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म-साम्पराय व उपशान्तमोह इन सात गुणस्थानों में जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं। क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती जीव उत्तम अन्तरात्मा हैं। और जिन अर्थात् सयोगकेवली, अयोगकेवली गुणस्थानों में व सिद्ध जीव परमात्मा हैं।

शंका—बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा के भेद किस अपेक्षा से किये गये ?

समाधान—उपयोग की अपेक्षा।

शंका—वह कैसे ?

मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से घटता हुआ अशुभोपयोग है। असंयतसम्यग्दृष्टि, देश-विरत तथा प्रमत्तसंयत गुणास्थानों में तारतम्य से बढ़ता हुआ शुभोपयोग है। अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह तथा क्षीणमोह ६ गुणस्थानों में तारतम्यता से बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग है तथा सयोगिजिन, अयोगिजिन इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है। [प्र.सा., पृ.२१]

दोषों के त्याग से मुक्ति

मूढ़त्तय सल्लत्तय दोसत्तय-दंड गारवत्तयेहि।
परिमुक्को जोई सो सिव-गइ-पह-णायगो होइ ।।१४२।।

अन्वयार्थ—जो (जोई) योगी (मूढ़त्तय) तीन मूढ़ता (सल्लत्तय)

तीन शल्य (दोसत्तय) तीन दोष (दंड-गारवत्तयेहि) तीन दंड, तीन गारव (परिमुक्को) परिमुक्त/रहित होता है (सो) वह (सिव-गइ-पह-णायगो) शिव-गति के पथ/मार्ग का नेता होता है।

अर्थ—जो योगी तीन मूढ़ता-देव-मूढ़ता, गुरु-मूढ़ता, व लोकमूढ़ता, तीन शल्य—माया, मिथ्या, निदान, तीन दोष—राग, द्वेष, मोह तीन—दंड, मन,वचन, काय और तीन गारव—रसगारव, ऋद्धि गारव और सात गारव से रहित होता है वह मोक्ष पथ का स्वामी/मोक्षमार्ग का नेता अर्थात् अरहंत पद को प्राप्त होता है।

रत्नत्रय से मुक्ति

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

रयणत्तय-करणत्तय-जोगत्तय-गुत्तित्तय विसुद्धेहिं।
संजुत्तो जोई सो सिव-गई-पह-णायगो होई ।।१४३।।

अन्वयार्थ—जो (जोई) योगी (रयणत्तय) तीन रत्न/रत्नत्रय (करणत्तय) तीन करण (जोगत्तय) तीन योग (गुत्तित्तय) तीन गुप्तियों की (विसुद्धेहिं) विशुद्धि से (संजुत्तो) संयुक्त है (सो) वह (सिव-गई–पह-णायगो) शिवगति-पथनायक/मोक्षगति के मार्ग का नायक (होई) होता है।

अर्थ—जो योगी रत्नत्रय से सुशोभित है, तीन..... से सहित है, मन-वचन-काय तीनों से शुद्ध है और मन-वचन-काय रूप गुप्तियों से गुप्त है वह ही मोक्षमार्ग का/शिवगति के मार्ग का नायक होता है।

आचार्य देव कहते हैं जो मुनि रत्नत्रय से युक्त है वही तीनों से विशुद्ध हो तीन गुप्ति से गुप्त हो परम उदासीनता रूप संयम को प्राप्त होता है। ऐसा संयत ही द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित अथवा शुद्ध-बुद्धैक स्वभाव से युक्त निज आत्मा का ध्यान करता है; पश्चात् वह परम-पद इन्द्र-धरणेन्द्र मुनीन्द्र द्वारा वन्दित मुक्ति-मार्ग का नेता होता है।

जिनलिंग मुक्ति का हेतु

जिण-लिंग-हरो जोई, विराय-सम्मत्त-संजुदो णाणी।
परमो वेॅक्खाइरियो सिव-गइ-पह-णायगो होइ ।।१४४।।

अन्वयार्थ—(जिण-लिंग-हरो) जिन लिंग का धारक (विराय-सम्मत्त संजुदो) वैराग्य और सम्यक्त्व से संयुक्त (णाणी) ज्ञानी और (परमोवेॅक्खाइरियो) परम-उपेक्षा-भाव का धारक (जोई) योगी (सिव-गइ-पह-णायगो) शिवगति का पथ नायक (होइ) होता है।

अर्थ—जो योगी जिन लिंग का धारक है, वैराग्य और सम्यक्त्व से संयुक्त है, ज्ञानी है और परम उपेक्षा भाव का धारक है वह मोक्ष-पथ नायक होता है।

यहाँ आचार्य देव कहते हैं जिन लिंग ही मुक्ति मार्ग है, जिन लिंग धारक योगी ही मुक्ति का पात्र है—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिण सासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो हि मोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।।२३अ.पा.।।

अर्थात् जिनलिंग ही एकमात्र मोक्षमार्ग है शेष सभी उन्मार्ग हैं।

जो जिनलिंग के धारक योगी, संसार शरीर भोगों से विरक्त वैरागी-पुत्र-स्त्री-मित्र आदि के स्नेह से रहित, ऊर्ध्व-मध्य-अधोलोक में कोई जीव मेरा नहीं है, मैं अकेला ही हूँ, इस प्रकार की भावना सहित, देव-शास्त्र-गुरु के भक्त हैं, वैराग्य की परम्परा का विचार करते रहते हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, स्व-पर भेद-विज्ञानी हैं, अपवाद मार्ग से रहित उपेक्षा बुद्धि से शुद्ध है अर्थात् उपेक्षा संयम में तत्पर है वे योगी मोक्ष-मार्ग के नेता होते हैं।

शुद्धोपयोग से मुक्ति

बहि-रब्भंतर-गंथ विमुक्को, सुद्धोप-जोय-संजुत्तो।
मूलुत्तर गुण पुण्णो, सिव-गइ पह-णायगो होइ ।।१४५।।

अन्वयार्थ—(वहि-रब्भंतर) बाह्य और अभ्यंतर (गंथ-

विमुक्को) परिग्रह से मुक्त (सुद्धो-पजोय-संजुत्तो) शुद्धोपयोग से संयुक्त (मूलुत्तर गुण पुण्णो) मूल व उत्तर गुणों से पूर्ण योगी (सिव-गइ पह-णायगो) शिवगति के पथनायक/मुक्ति मार्ग के नेता (होइ) होते हैं।

अर्थ—बाह्य १० प्रकार—क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासी-दास-कुप्य व भांड और १४ प्रकार अन्तरंग—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद परिग्रहों से मुक्त/रहित, मूल व उत्तर गुणों से पूर्ण शुद्धोपयोगी मुनि मुक्तिमार्ग के नेता हैं। अर्थात् जो योगी अपने शुद्ध आत्मा के बल से अपने स्वरूप में/संयम में ठहरे हुए हैं तथा बाह्य व अन्तरंग बारह प्रकार के तप के बल से बाह्य तथा आभ्यंतर क्रोधादि परिग्रह से जिनका प्रताप खंडित नहीं होता है। जो अपने शुद्ध आत्मा में तप रहे हैं, जो वीतराग हैं अर्थात् शुद्धात्मा की भावना के बल से सर्व रागादि दोषों से रहित हैं, मूल-उत्तर गुणों से पूर्ण हैं, सुख-दुख में समचित्त हैं, इष्ट-अनिष्ट इन्द्रियों के विषयों में हर्ष-विषाद को त्याग देने से समता भाव के धारी हैं, ऐसे परम शुद्धोपयोगी मुनि मुक्ति-मार्ग के नेता होते हैं।

सम्यक्–दर्शन की साधना

जं जाइ-जरा-मरणं दुह-दुट्ठ विसाहि-विस-विणास-यरं।
सिव-सुह-लाहं सम्मं संभावइ सुणइ साहए साहू ।।१४६।।

अन्वयार्थ—(जं) जो (सम्मं) सम्यक्त्व (जाइ-जरा-मरणं) जन्म, जरा, मृत्यु (दुह-दुट्ठ-विसाहि-विस-विणास-यरं) दुःखरूपी दुष्ट विषधर सर्प के विष का विनाश करने वाला है (सिव सुह-लाहं) शिव-सुख का लाभ करने वाला है (साहू) साधु (संभावइ) उसी सम्यक्त्व की भावना करता है (सुणइ) उसी के बारे में सुनता है (साहए) उसी की साधना करता है।

अर्थ—जो सम्यक्त्व जन्म-जरा का तथा दुःखरूपी दुष्ट विषधर सर्प

के विष का नाश करने वाला है, शिव-सुख का लाभ करने वाला है साधु उसी सम्यक्त्व की भावना करता है, उसी के बारे में सुनता है, उसी की साधना करता है।

किसी का इकलौता पुत्र यदि खो जावे अथवा बिना कहे घर से निकल जावे तो मनुष्य जिस प्रकार उसकी खोज करता है, जानकारों से पूछता है कि कहीं उन्होंने उसे देखा है क्या ? उसे पा जाने की तीव्र इच्छा रखता है, उसकी तीव्रता से बाट जोहता/देखता रहता है-एक मिनट के लिए भी उसका पुत्र उसके चित्त से नहीं उतरता, उसी प्रकार आत्मस्वरूप के जिज्ञासु साधु उस आत्मस्वरूप की/उस सम्यक्त्व की ही बात करते है, उसी की विशेषता पूछते है, उसी की प्राप्ति की निरन्तर भावना करते हैं। जैसा कि कहा है—

तद् ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रतेत् ।।५३।।

साधु आत्मस्वरूप को अनुभवी पुरुषों से पूछे, उसी की प्राप्ति की इच्छा करें, उसी की भावना में सावधान हुआ आदर बढ़ावे, जिससे यह अज्ञानमय बहिरात्मरूप का त्यागकर परमात्मस्वरूप की प्राप्ति होवे।

लोकपूज्य सम्यग्दर्शन

किं बहुणा हो देविंदाहिंद–णरिंद गणहरिं-देहिं।
पुज्जा परमप्पा जे, तं जाण पहाण-सम्मगुणं ।।१४७।।

अन्वयार्थ—(हो) हे भव्य (किं बहुणा) बहुत कहने से क्या लाभ (देविंदाहिंद-णरिंद-गणहरिं-देहिं) देवेन्द्र-नागेन्द्र-नरेन्द्र-गणधरेन्द्रों से (जे) जो (पुज्जा) पूजित हैं (तं) उनमें (पहाण-सम्मगुणं) सम्यक्त्व गुण प्रधान है।

अर्थ—हे भव्य ! बहुत कहने से क्या लाभ ? देवेन्द्र-नागेन्द्र-गणधरेन्द्रों से जो पूजित हैं उनमें सम्यक्त्व गुण प्रधान है।

आचार्य देव कहते हैं निर्वाण की प्राप्ति में सम्यक्त्व गुण की प्रधानता है—

णाणं णरस्स सारं, सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ।।३१।।द.प्रा.।।

ज्ञान जीव के सारभूत है, ज्ञान की अपेक्षा सम्यक्त्व सारभूत है क्योंकि सम्यक्त्व से ही चारित्र होता है और चारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है। अत: सम्यक्त्व गुण प्रधान है।

आचार्य देव आगे और भी कहते हैं कि जब जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं तभी तीर्थंकर परमदेव होते हैं। तीर्थंकर बनने के लिए दर्शन-विशुद्धि होना आवश्यक है। देव-दानवों से इस संसार में सम्यक्‌दर्शन, सबके द्वारा पूजा जाता है। इस रत्न का मूल्य कोई भी करने में समर्थ नहीं है। यदि उसका कोई मूल्य अपने मुख के द्वारा करता है तो सम्यक्त्व के महत्व को ही कम करता है।

कालदोष

उवसमइ सम्मत्तं मिच्छत्त-वलेणं पेल्लए तस्स ।
परि-वट्टंति कसाया अवसप्पिणी कालदोसेण ।।१४८।।

अन्वयार्थ—(अवसप्पिणी कालदोसेण) अवसर्पिणी के काल-दोष से (मिच्छत्त-वलेणं) मिथ्यात्व के उदय से (तस्स) उन जीव का (उवसमइ-सम्मत्तं) उपशम सम्यक्त्व (पेल्लए) नष्ट हो जाता है और (कसाया परि-वट्टंति) कषाय पुन: उत्पन्न हो जाती है।

अर्थ—अवसर्पिणी काल के दोष से, मिथ्यात्त्व के उदय से जीवों का उवसम सम्यक्त्व नष्ट हो जांता और कषाय पुन: उत्पन्न हो जाती है।

इस काल में जीवों का सम्यक्त्व शीघ्र नष्ट हो जाता है। इसी सम्बन्ध में समन्तभद्राचार्य लिखते हैं—

काल: कलिर्वा कलुषाऽशयो वा,
श्रोतु: प्रवक्तुर्वचनाऽनयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्व-लक्ष्मी,
प्रभुत्वशक्ते-रपवाद-हेतु: ।।५।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वर्तमान में एक तो कलिकाल है, दूसरा सम्यक्नय की विवक्षा को लिये उपदेश का न देना है, तीसरा श्रोतृ वर्ग का - कलुषित आशय और चौथा है कि जीवों का चित्त प्रायः दर्शनमोह से आक्रान्त है।

इन्हीं सब कारणों से कलिकाल में उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। यहाँ हाथ में आया हुआ रत्न अपने ही हाथों समुद्र में फेंका जाता है।

श्रावक की त्रेपन क्रिया

गुण-वय-तव-सम-पडिमा-दाणं-जलगालणं-अणत्थमिदं[१] ।
दंसण-णाण चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया ।।१४९।।

अन्वयार्थ—(गुण) गुण (वय) व्रत (तव) तप (सम) समता (पडिया) प्रतिमा (दाणं) दान (जलगालणं) जल छानना (अणत्थमिदं) रात्रि में सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करना (दंसण-णाण-चरित्तं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र (सावया) श्रावक की (तेवण्ण) ५३ (किरिया) क्रियाएं (भणिया) कही गई हैं।

अर्थ—८ मूलगुण- बड़, पीपल, पाकर, ऊमर, कठूमर, मद्य, मांस, मधु= ५ उदुम्बर का त्याग करना।

१२ व्रत- ५ अणुव्रत—१. अहिंसाणुव्रत २. सत्याणुव्रत ३. अचौर्याणुव्रत ४. ब्रह्मचर्याणुव्रत और ५. परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

३ गुणव्रत—१. दिग्व्रत २. देशव्रत ३. अनर्थदंडव्रत।

४ शिक्षाव्रत—१. सामायिक २. प्रोषधोपवास ३. भोगोपभोग-परिमाण और ४. अतिथिसंविभाग। [५+३+४=१२]

१२ तप—६ अन्तरंग तप—१. प्रायश्चित्त २. विनय ३. वैय्यावृत्य ४. स्वाध्याय ५. व्युत्सर्ग और ६. ध्यान।

६ बहिरंग तप—१. अनशन २. ऊनोदर ३. वृत्तिपरिसंख्यान ४. रस-परित्याग ५. विविक्तशय्यासन ६. कायक्लेश।

---

१ अणत्थमिदं भी पाठ है। (ब प्रति)

समता—'१ समता भाव।

११ प्रतिमा—१. दर्शन प्रतिमा २. व्रत प्रतिमा ३. सामायिक प्रतिमा ४. प्रोषध प्रतिमा ५. सचित्तत्याग प्रतिमा ६. रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा ७. ब्रह्मचर्य ८. आरंभत्याग प्रतिमा ९. परिग्रहत्याग प्रतिमा १०. अनुमतित्याग प्रतिमा ११. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा।

४ प्रकार का दान—१. आहारदान २. औषधदान ३. शास्त्रदान ४. अभयदान, जलगालन, रात्रि भोजन त्याग, और रत्नत्रय इस प्रकार श्रावक की कुल ८+१२+१२+१+११+४+१+१+३=५३ क्रियाएँ हैं।

ज्ञानाभ्यास से मुक्ति

मार्गदर्शक :— आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

णाणेण झाण सिद्धि, झाणादो सव्व-कम्म-णिज्जरणं।
णिज्जरण-फलं मोक्खं, णाणब्भासं तदो कुज्जा ।।१५०।।

अन्वयार्थ—(णाणेण) ज्ञान से (झाण सिद्धि) ध्यान की सिद्धि होती है (झाणादो सव्व-कम्म-णिज्जरणं) ध्यान से सब कर्मों की निर्जरा होती है (णिज्जरणफलं मोक्खं) निर्जरा का फल मोक्ष है। (तदो) इसलिए (णाणब्भासं) ज्ञानाभ्यास (कुज्जा) करना चाहिये।

अर्थ—ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से अष्टकर्मों की निर्जरा होती है, निर्जरा का फल मोक्ष की प्राप्ति है अतः भव्यात्माओं को ध्यान को सिद्ध करने वाले ज्ञानाभ्यास करना चाहिये।

यहाँ आचार्य देव का तात्पर्य है कि—जिस प्रकार सुहागा और नमक के लेप से युक्त कर स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी निर्मल जल से यह जीव भी शुद्ध होता है। मोह उदय से यह जीव अनादिकाल से अज्ञान मल से मलीन हो रहा है, उसी मलिनता के कारण यह अशुद्ध होकर संसार-सागर में मज्जनोन्मज्जन कर रहा है। इसलिये ज्ञान से मोह की धारा को दूरकर ज्ञान को निर्मल बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। ज्ञान की निर्मलता से ध्यान की विशुद्धि, ध्यान की विशुद्धि से कर्मों की निर्जरा और कर्मनिर्जरा से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्स कोडीहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेदि अन्तोमुहुत्तमेत्तेण ।।१०७।।
छट्ट-ठट्ठ-मदसमदुबालसेहि अण्णाणियस्स जा सोही।
तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्य णाणिस्स ।।१०८।। भ.आ.

१. सम्यग्ज्ञान से रहित अज्ञानी जिस कर्म को लाख करोड़ भवों में नष्ट करता है/क्षय करता है, उस कर्म को सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियों से युक्त हुआ अन्तर्मुहूर्त में क्षय करता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

२. अज्ञानी के दो-चार-पाँच-छह-आठ आदि उपवास करने में जितनी विशुद्धि/कर्मनिर्जरा होती है उससे बहुगुणी विशुद्धि/निर्जरा भोजन करते हुए ज्ञानी के होती है।

श्रुत की भावना से उपलब्धि

कुसलस्स तवो णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो।
सुदभावेण तत्तिय तह्मा सुदभावणं कुणह ।।१५१।।

अन्वयार्थ—(कुसलस्स) कुशल व्यक्ति के (तवो) तप होता है (णिवुणस्स संजमो) निपुण व्यक्ति के संयम होता है (समपरस्स) समता भावी के (वेरगो) वैराग्य होता है; और (सुदभावेण) श्रुत की भावना से (तत्तिय) वे तीनों होते हैं (तह्मा) इसलिये (सुदभावणं) श्रुत की भावना (कुणह) करो।

अर्थ—जो आत्मा के स्वरूप को जानने में कुशल हैं, उनके तप होता है, जो आत्म स्वरूप को जानने में निपुण हैं उनके संयम होता है, समभावी के वैराग्य होता है और श्रुतज्ञान के अभ्यास से तपश्चरण, संयम तथा वैराग्य तीनों की प्राप्ति होती है, अतः श्रुत की भावना/श्रुत का अभ्यास करना चाहिये।

इस पंचम काल में साक्षात् केवली भगवान् नहीं हैं, श्रुतकेवली भी नहीं हैं। मुनिराज जो आगम के ज्ञाता हैं, श्रुताभ्यासी हैं वे भी सुलभ नहीं हैं, ऐसे समय में एकमात्र माँ जिनवाणी ही हमारी मार्ग-दर्शिका, पथ-प्रदर्शिका है। आचार्य देव ने इसीलिये लिखा—''आगमचक्खू साहू'' ''आगम

तीजा नयन बताया''। साधु के नेत्र आगम हैं। कहा भी है—

अल्पायुषा-मल्पधिया-मिदानीं कुतः समस्त-श्रुत पाठ शक्तिः।
तदत्रमुक्तिं प्रतिबीज मात्र-मभ्यस्तता-मात्महितं प्रयत्वात् ॥१२६॥प.नं.॥

भव्यात्माओ ! इस पंचम काल में आयु अल्प है, ज्ञान निरन्तर क्षीण हो रहा है। अल्पायु तथा क्षयोपशम की हीनता के कारण पूर्णश्रुत का अभ्यास नहीं कर सकते हैं। अतः मोक्षाभिलाषी पुरुषों को मुक्ति प्रदायक आत्म-हितकारी श्रुत का अभ्यास तो प्रयत्नपूर्वक करना ही चाहिये। क्योंकि श्रुताभ्यास के बिना कुशलता, निपुणता, समताभावी रूप में निखार नहीं आ पाता। एक श्रुताभ्यासी के पास कुशलता, निपुणता, समरसता सभी होने से वह ज्ञान-तप-वैराग्य और पूर्ण संयम की प्राप्ति कर मुक्ति का भाजन बनता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मिथ्यात्व से अनन्त काल भ्रमण

काल-मणंतं जीवो, मिच्छत्त-सरूवेण पंच संसारे।
हिडदि ण लहइ, सम्मं संसार-ब्भमण-पारंभो ॥१५२॥

अन्वयार्थ—(जीवो) जीव (मिच्छत्त-सरूवेण) मिथ्यात्व-स्वरूप होने से (अणंतं कालं) अनंतकाल से (पंच संसारे) पंच परावर्तन रूप संसार में (हिडदि) भ्रमण कर रहा है; किन्तु (सम्मं) सम्यक्त्व (ण लहइ) प्राप्त नहीं हुआ (संसार-ब्भमण-पारंभो) संसार परिभ्रमण बना हुआ है।

अर्थ—जीव मिथ्यात्व-स्वरूप होने से अनन्तकाल से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव, भाव रूप संसार में भ्रमण कर रहा है; किन्तु इसे सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई। इसी का परिणाम है कि संसार परिभ्रमण बना हुआ है। संसार में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। कहा भी है—

कालु अणाइ अणाइ जिउ भव सायरु वि अणंतु।
जीवि विण्णि ण पत्ताइँ जिणु सामिउ सम्मत्तु ॥१४३॥ प.प्र.॥

काल, जीव और संसार ये तीनों अनादि हैं। इस अनादि संसार में

मिथ्यात्व-रागादि की आधीनता से निज शुद्धात्मा की भावना से च्युत हुए जीव ने दो चीजें प्राप्त नहीं कीं – १. जिनस्वामी २. सम्यक्त्व। सम्यक्त्व शब्द से अभिप्राय–निश्चय से–शुद्धात्मानुभूति लक्षणरूप वीतराग सम्यक्त्व और व्यवहार से वीतरागसर्वज्ञप्रणीत सद् द्रव्यादि श्रद्धान रूप सराग सम्यक्त्व। ऐसा सम्यक्त्व इस जीव को अभी तक नहीं हुआ। सम्यक्त्व होने पर ही परमात्मा का भी परिचय होता है। सम्यक्त्व नहीं होने से परमात्मा का भी परिचय नहीं हुआ और स्व का परिचय भी नहीं अतः संसार परिभ्रमण बना ही रहा।

सम्यग्दर्शन के सद्भाव–अभाव का फल

सम्म-दंसण-सुद्धं, जाव दु लभदे हि ताव सुही।
सम्मद्दंसण सुद्धं, जाव ण लभदे हि ताव सुही ।।१५३।।

अन्वयार्थ—(जाव-दु) जब तक (सुद्धं सम्म-दंसण) शुद्ध सम्यग्दर्शन (लभदे) प्राप्त कर लेता है (ताव हि) निश्चय से तब ही (सुही) सुखी होता है (जाव) जब तक शुद्ध (सम्म-द्दंसण) सम्यग्दर्शन (लभदे) प्राप्त (ण) नहीं कर लेता है (ताव हि) तभी तक (दुही) दुखी रहता है।

अर्थ—यह जीव जब तक शुद्ध सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त कर लेता है, निश्चय से तब ही सुखी होता है और जब तक शुद्ध सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त कर लेता है, तभी तक दुखी रहता है।

इस संबंध में भजन की कुछ पंक्तियाँ स्मरणीय हैं—

यही इक धर्म मूल है मीता, निज समकित सारस हिता।
समकित सहित नरक पद वासा, खासा बुधजन गीता।
तहते निकसि होय तीर्थंकर, सुरगण जजंत सप्रीता ॥ यही...
स्वर्गवास हु नीको नाहिं बिन समकित अविनीता
तहँ तें निकसि एकेन्द्रिय उपजत, भ्रमत फिरत भवभीता ॥ यही...

हे मित्र ! धर्म का मूल सम्यक्त्व है, यही जीव का सार है। सम्यक्त्व सहित जीव घोर नरक में भी सुख का अनुभव करता है/सुखी है और वहाँ से निकल तीर्थंकर पदवी को प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त करता है। जबकि सम्यक्त्व रहित स्वर्ग का निवास भी ठीक नहीं है—

जो विमानवासी हूँ थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुख पाय।
तहँ तैं चय थावर तन धरे, यो परिवर्तन पूरे करे॥

सम्यक्त्व रहित जीव वैमानिक देवों मे भी दुखी है/दुख का ही अनुभव करता है और वहाँ से चयकर पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक स्थावरों में उत्पन्न होता है।

उभयदृष्टि परिणाम

किं बहुणा वयणेण दु, सव्वं दुक्खेव सम्मत्त विणा।
सम्मत्तेण विजुत्तं सव्व सोक्खेव जाण खु॥१५४॥

अन्वयार्थ—(किं बहुणा वयणेण दु) बहुत कहने से/ अधिक कथन से क्या लाभ ? (सम्मत्त विणा) सम्यक्त्व बिना (सत्वं दुक्खेव) सब दुख रूप ही है। और (सम्मत्तेण विजुत्तं) सम्यक्त्व सहित (सव्वं सोॅक्खेव) सब सुख रूप ही है—यह (खु) निश्चय (जाणं) जानो।

अर्थ— [हे भव्यात्माओं !] अधिक बोलने से क्या लाभ है ? संसार में सम्यक्त्व के बिना सब दुःख रूप ही है और सम्यक्त्व सहित सब सुख रूप ही है, यह निश्चय से जानो।

एक बालक अपने पिता के साथ एक विशाल मेले में घूमने के लिए गया। पिता की अँगुली पकड़कर व मेले की प्रत्येक वस्तु को देखता हुआ सुख का अनुभव कर रहा था। कहीं खिलौने थे, कहीं सुन्दर चित्रकला, कहीं मिठाइयाँ। देखते-देखते उसका हाथ पिता की अँगुली से छूट गया। बस, अब तो बालक का रूप ही बदल गया। जो चीजें, वस्तुएँ उसे सुखप्रद थीं, उसके लिए वे ही वस्तुएँ दुख का कारण बन गईं। वह फूट-फूटकर

रोने लगा। यही स्थिति हम संसारी भव्यात्माओं की है। भव्य जीवों ! जब तक सम्यक्त्वरूपी पिता की अँगुली पकड़े रखोगे, तुम्हें गरीबी में भी आनन्द/सुख प्राप्त होगा और सातिशय पुण्य बंधकर परलोक सुधार मुक्ति की प्राप्ति करोगे। और जिस क्षण सम्यक्त्वरूपी पिता की अँगुली पकड़कर चलना छोड़ दोगे उस ही क्षण चक्रवर्ती की सम्पदा, संसार की समस्त उपाधियाँ भी दुखकर ही होंगी। पापानुबंधी पुण्य से परलोक बिगड़ेगा। संसार-भ्रमण कभी नहीं मिट पायेगा। अत: कैसे भी हो, एक बार सम्यक्त्व-रूपी रत्न की प्राप्ति करने का पुरुषार्थ करो।

रात्रिभोजन में कुशीलता है

[१]भुत्तो अयोगुलो-सइयो तत्तो अग्गि-सिखोवमो यज्जे।
भुंजइ जे दुस्सीला रत्तपिंडं असंजतो ।।१५४।।

अन्वयार्थ—जैसे (अग्गि-सिखोवमो) अग्नि शिखा के समान (तत्त) तप्तायमान (अयोगुलो-सइयो) लोहे का गोला (यज्जे) पानी में डालने पर (भुत्तो) भक्षण करता है/खींचता है वैसे ही (जे) जो (दुस्सीला) शील रहित जीव (रत्त-पिंडं भुंजइ) रात्रि में भोजन को खाते हैं वे (असंजतो) असंयमी हैं।

अर्थ—जैसे अग्नि शिखा के समान तप्तायमान लोहे का गोला पानी में डालने पर चारों ओर से पानी को खींचता है, सारे पानी को सोख लेता है; वैसे ही जो कुशील, आचरणहीन मानव रात्रि में भोजन करते हैं वे चारों ओर पापों का संचय करते हुए निरन्तर खाना ही खाना चाहते हैं, भक्ष्य-अभक्ष्य सभी को एकसाथ भक्षण करना चाहते हैं। ऐसे जीव संयमहीन/असंयमी हैं।

सम्यक्त्वरहित ज्ञानाभ्यास व अनुष्ठान संसार के हेतु

णिक्खेव-णय-पमाणं सद्दालंकार-छंद लहियाणं।
णाडय पुराण कम्मं, सम्मं विणा दीह-संसार ।।१५५।।

---

१ "यह ब प्रति में उपलब्ध गा. १५४ है"।

अन्वयार्थ—(णिक्खेव-णय-पमाण) निक्षेप-नय-प्रमाण (सद्दालंकार-छंद-पाडय पुराण) शब्दालंकार, छन्द, नाटकशास्त्र, पुराण आदि का ज्ञान (लहियाणं) प्राप्त कर (कम्मं) बाह्य क्रियाएँ कीं; किन्तु ये सब ज्ञान व क्रिया (सम्मं विणा) सम्यक्त्व के बिना (दीह-संसार) दीर्घ संसार के कारण होते हैं।

अर्थ—निक्षेप-नय-प्रमाण, शब्दालंकार, विविध छन्द शास्त्र, नाट्य शास्त्र, पुराण आदि का ज्ञान प्राप्त किया, बाह्य क्रियाएँ—आतापन आदि योग, पंचाग्नि तप, घोर उपवास आदि बाह्य तप किये परन्तु ये सब अर्थात् ११ अंग नौ पूर्व तक का ज्ञान व बाह्य तप रूप कठोर अनुष्ठान भी सम्यक्त्व के बिना घोर संसार के कारण होते हैं। अर्थात् यदि कोई मुनि स्पष्ट उच्चारण करता है, तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार, सिद्धान्त और साहित्य को पढ़ता है तथा तेरह प्रकार चारित्र को करता है, किन्तु सम्यक्त्व/आत्मस्वभाव से विपरीत है तो वह ज्ञान व चारित्र बालशास्त्र व बालचारित्र है। कर्मों के क्षय का हेतु नहीं है अचार्य देव ने कहा भी है—

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहे य चरित्ते।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्सविवरीदं ॥१००॥ मो.प्रा. ॥

आचार्य कहते हैं इस जीव ने निक्षेप-नय-प्रमाण आदि व छन्द-न्याय व्याकरण नाट्यशास्त्र, पुराण आदि का बहु ज्ञान प्राप्त किया, बाह्य तप भी किया परन्तु अनात्मवश निज शुद्ध बुद्ध, रूप एक स्वभाव से युक्त चैतन्य-चमत्कार मात्र टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव वाले आत्मा की भावना अथवा सम्यक्त्व की भावना से भ्रष्ट होकर जल में, थल में, अग्नि में, वायु में, आकाश मे, पर्वत में, गुफा, उत्तरकुरु, देवकुरु नामक भोगभूमि संबंधी कल्पवृक्ष वन, गुफा आदि तथा विदेह रम्यक् हैरण्यवत आदि क्षेत्रों में चिरकाल तक अनन्त अवसर्पिणी-उवसर्पिणी काल पर्यन्त निवास किया। इसीलिये कहा है—

णाणं णरस्य सारं, सारो वि णरस्य होइ सम्मत्तं।
सम्मत्तओ चरणं, चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥३१॥द.प्रा.॥

जीवमात्र के जीवन में ज्ञान एक सार-पूर्ण गुण है, उस ज्ञान की अपेक्षा सारपूर्ण गुण सम्यक्त्व है। क्योंकि सम्यक्त्व से ज्ञान व चारित्र होता है। बिना सम्यक्त्व के ज्ञानाभ्यास व चारित्र का पालन करता हुआ भी पुरुष ज्ञान व चारित्र से रहित कहा जाता है। सम्यक्त्व सहित चारित्र से

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समस्त कर्मक्षय लक्षण युक्त मोक्ष होता है, अतः सम्यग्दर्शन सबसे उत्कृष्ट है ऐसा जानना चाहिये।

ममकार के त्याग बिना मुक्ति नहीं

वसदि[1] पडिमोव-यरणे, गणगच्छे समय-संघ-जाइ कुले।
सिस्स पडिसिस्स-छत्ते, सुयजाते[2] कप्पडे पुत्थे ।।१५६।।
पिच्छे-संथरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयारं।
यावच्च अट्टरुद्दं, ताव ण मुञ्चेदि ण हु सोंक्खं ।।१५७।।

अन्वयार्थ—(वसदि पडिमोव-यरणे) वसति, प्रतिमोपकरण (गण-गच्छे) गण में, गच्छ में (समय-संघ-जाइ-कुले) शास्त्र, संघ, जाति कुल में (सिस्स-पडिसिस्स-छत्ते) शिष्य-प्रतिशिष्य में (सुयजाते) पुत्र-पौत्र में (कप्पड़े) कपड़ों या वस्त्रों में (पुत्थे) पुस्तक में (पिच्छे) पिच्छी में (संथरणे) संस्तर (इच्छासु) इच्छाओं में (लोहेण) लोभ से (ममयारं) ममकार करता है और (यावच्च) जब तक (अट्टरुद्दं) आर्त्त-रौद्रध्यान करता है (ताव) तब-तक (ण मुञ्चेदि) मुक्त नहीं होता (ण हु सोंक्ख) न उसे सुख मिलता है।

अर्थ—जो साधु वसति में [जिस स्थान में साधु या त्यागी निवास करता है उसे वसति कहते हैं] प्रतिमोपकरण, गण, गच्छ, शास्त्र, संघ, जाति, कुल में, शिष्य-प्रतिशिष्य में पुत्र-पौत्र, कपड़े/वस्त्रों में, पुस्तक में, पिच्छी, संस्तर, आदि की इच्छाओं में लोभ ममकार करता है तथा जब तक आर्त्त-रौद्र ध्यान करता है; तब तक जीव मुक्त नहीं होता, न उसे सुख ही मिलता है।

---

१. "वसहि" पाठ भी है (ब) प्रति। २. सुदजादे भी पाठ है (अ प्रति)

आचार्य कहते हैं हे भव्यात्माओं ! जिनलिंग सर्वलोक में श्रेष्ठ है। जैसे रत्नों में हीरा वृक्षों में चन्दन श्रेष्ठ है वैसे ही सब लिंगों में जिनलिंग श्रेष्ठ है। यह एक महानिधि है। इस निर्मल लिंग को धारण करके भी यदि वसति उपकरण गण-गच्छ, संस्तर, शिष्य, वस्त्र आदि के प्रति ममकार भाव बना रहा, आर्त्त-रौद्र ध्यान बना रहा तो मात्र बाह्य नग्नता से कर्मों का क्षय नहीं हो सकेगा।

ममकार– सदा अनात्मीय, ऐसे कर्म जनित अपने शरीरादिक में जो आत्मीय अभिनिवेश है वह ममकार है। अथवा पर द्रव्य में ममत्व बुद्धि ममकार है—जैसे मेरा शरीर, मेरा घर, मेरा परिवार आदि।

वस्त्र के प्रभेद—१. अंडज, २. बोंडज, ३. रोमज, ४. वल्कज और ५. चर्मज।

गच्छ-गण–तीन पुरुषों/तीन मुनियों के समुदाय को गण कहते हैं और तीन से अधिक मुनियों के समुदाय को गच्छ कहते हैं। अथवा सात पुरुषनि की परम्परा को गच्छ कहते हैं –मूलाचार

रत्नत्रययुक्त निर्मल आत्मा समय है

रयणत्तय-मेव गणं गच्छं गमणस्य मोक्ख-मग्गस्य।
संघो गुणसंघादो, समओ खलु णिम्मलो अप्पा ।।१५८।।

अन्वयार्थ—(मोक्खमग्गस्स) मोक्ष-मार्ग में (गमणस्य) गमन करने वाले साधु का (रयणत्तय-मेव) रत्नत्रय ही (गणं गच्छं) गण-गच्छ है (गुणसंघादो) गुणों के समूह से (संघ) संघ है (खलु) निश्चय से (णिम्मलो अप्पा) निर्मल आत्मा (समओ) समय है।

अर्थ—मोक्ष-मार्ग में गमन करने वाले साधु का रत्नत्रय ही गण है, वही गच्छ है, वही गुणों के समूह से सहित संघ है अत: निश्चय निर्मल आत्मा ही समय है।

आचार्य कहते हैं– निश्चय से ज्ञान में आत्मा है, सम्यग्दर्शन में आत्मा है, चारित्र में आत्मा है, प्रत्याख्यान में आत्मा है, संवर में आत्मा है और योगध्यान में आत्मा है—

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥५८॥भा.प्रा.॥

मेरा आत्मा ही ज्ञानरूप कार्य की उत्पत्ति में निमित्त है, ज्ञान की उत्पत्ति मे बाह्य उपकरण पुस्तक आदि कारण नहीं हैं। दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व में मेरा आत्मा ही विद्यमान है, मेरा आत्मा ही सम्यक्त्व रूप कार्य की उत्पत्ति में कारण है अन्य तीर्थ यात्रा जप-तप नही तथा चारित्र की उत्पत्ति में भी मेरा आत्मा ही मेरा कार्य-कारण रूप है इसी प्रकार आस्रव निरोध रूप संवर, प्रत्याख्यान व योग में भी आत्मा ही मेरा कारण व कार्य है। अतः निर्मल आत्मा ही समय है। मोक्षमार्गी साधु का रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही गण-गच्छ व संघ है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी म

[यहाँ उपादान कारण की अपेक्षा आत्मा ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र-प्रत्याख्यान संवर व योग का कारण व कार्य कहा है। यहाँ इस कथन से बाह्य कारणों का सर्वथा निषेध नहीं समझना चाहिये।]

कर्मक्षय का हेतु सम्यक्त्व

मिहरो महंध-यारं मरुदो मेहं महावणं दाहो।
वज्जो गिरि जहा विय-सिंज्जइ सम्मं तहा कम्मं ॥१५९॥

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (मिहरो) सूर्य (महंध-यारं) महा-अन्धकार को (मरुदो) वायु (मेहं) मेघ को (दाहो) अग्नि (महावणं) महावन को (वज्जो) वज्र (गिरिं) पर्वत को (विय-सिंज्जइ) विनष्ट कर देता है (तहा) वैसे ही (सम्मं) सम्यग्दर्शन (कम्मं) कर्म को क्षय करता है।

अर्थ—जैसे-सूर्य महा अन्धकार को तत्काल नष्ट कर देता है, हवा का एक झकोरा घनघोर बादलों को क्षण में उड़ा देता है, अग्नि की एक छोटी सी चिनगारी भी महावन को जला देती है, वज्र बड़े से बड़े पर्वत को काट कर विनष्ट कर देता है, वैसे ही सम्यग्दर्शनरूपी महारत्न कर्मों का क्षय करता है। अर्थात् एक क्षण के लिए भी सम्यग्दर्शनरूपी महारत्न प्राप्त हो गया तो जीव के अनन्त संसार को बढ़ाने वाले कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

सम्यक्दर्शन रूपी रत्न दीपक

मिच्छंधयार-रहियं हिय-मज्झमिव सम्म-रयण-दीव कलावं ।
जो पज्जलइ स दीसइ सम्मं लोयत्तयं जिणुदिट्ठं ।।१६०।।

अन्वयार्थ—(मिच्छंधयार-रहियं) मिथ्यात्वरूपी अंधकार से रहित हुआ (जो) जो भव्यात्मा (हिय-मज्झमिव) हृदय के मध्य में (सम्म-रयण-दीव-कलावं) सम्यक्त्व रत्न रूपी दीपक को (पज्जलइ) प्रज्वलित करता है (स) वह (सम्मं) समीचीन प्रकार से (लोयत्तयं) तीन लोक को (दीसइ) देखता है ।

अर्थ—जो भव्यात्मा मिथ्यात्वरूपी अंधकार को अपने आत्मा से दूर हटाकर अपने हृदयरूपी मंदिर के भीतर सम्यक्त्व रत्न रूपी दीपक को जलाता है/प्रज्वलित करता है, वह समीचीन प्रकार से तीन लोक को देखता है । अर्थात् वह सम्यग्दर्शन रूपी दीपक के साथ ज्ञान और चारित्ररूपी रत्नमयी दीपकों के द्वारा अपनी आत्मा को प्रकाशमान करता हुआ केवलज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश को प्राप्त करता है; तभी तीन लोक के पदार्थों को अच्छी तरह देखता है । तात्पर्य है कि सम्यग्दृष्टि जीव ही केवलज्ञान ज्योति को प्राप्त कर लोकत्रय को देखता है ।

जिनेन्द्रवचनों का अभ्यास मोक्ष का हेतु

पवयण-सारब्भासं परमप्प-झाण-कारणं जाण ।
कम्मक्खवण-णिमित्तं, कम्मक्खवणे हि मोॅक्खसुहं ।।१६१।।

अन्वयार्थ—(पवयण-सारब्भासं) जिनेन्द्र कथित वचनों का/श्रुत का अभ्यास (परमप्प-ज्झाण-कारणं जाण) परमात्मा के ध्यान का कारण जानो । परमात्मा का ध्यान (कम्मक्खवण-णिमित्तं) कर्मक्षय का निमित्त है (कम्मक्खवणे हि) कर्मों का क्षय होने पर निश्चय ही (मोॅक्खसुहं) मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है ।

अर्थ—हे भव्यात्माओं ! वीतराग-सर्वज्ञ-हितोपदेशी शिवंकर जिनेन्द्र देव के श्रेष्ठ वचन द्वादशांग श्रुत का अभ्यास करो । श्रुत के अभ्यास से आत्म

तत्त्व का/आत्म के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होता है। श्रुत के अभ्यास से परमात्मा अरहंत देव के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जाना जाता है। कहा भी है—

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहं खलु तस्स जादि लयं॥ प्र.सा.८०॥

जो अरहंत देव को उनके द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षय को प्राप्त होता है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि श्रुताभ्यास से परमात्मा का ध्यान बनता है, श्रुताभ्यास परमात्मध्यान का संबल है। परमात्मा के ध्यान से स्वआत्मा की पहिचान होती है अतः परमात्मध्यान, शुद्ध आत्मध्यान का कारण है। परमात्मा का ध्यान कर्मों के क्षय का निमित्त/कारण है और कर्मों का क्षय होने पर ही मुक्ति सुख को प्राप्त किया जा सकता है। अतः मोक्षसुख के मूल श्रुतज्ञान का प्रतिदिन शुद्धभाव से अभ्यास करो।

धर्मध्यान मुक्ति का बीज

धम्म-ज्झाणब्भासं करेइ तिविहेण भाव सुद्धेण।
परमप्प-झाण-चेट्ठो, तेणेव खवेइ कम्माणि॥१६२॥

अन्वयार्थ—[जो] (तिविहेण सुद्धेण) मन-वचन-काय की शुद्धि पूर्वक (धम्म-ज्झाणब्भासं करेइ) धर्म्यध्यान का अभ्यास करता है– वह (परमप्प-झाण चेट्ठो) परमात्मा के ध्यान में स्थित होता (तेणेव) उसी से (कम्माणि) कर्मों का (खवेइ) क्षय करता है।

अर्थ—जो भव्यात्मा मन-वचन-काय त्रिकरण की विशुद्धिपूर्वक धर्मध्यान का अभ्यास करता है वह अरहंत-सिद्ध परमात्मा के ध्यान में स्थित होता हुआ देह-देवालय में स्थित परमानन्दमयी निजशुद्धात्मा में स्थित होता हुआ कर्मों का क्षय करता है।

जीवों की परिणति अशुभ-शुभ व शुद्ध तीन प्रकार की है इनमें अशुभ सर्वथा हेय ही है। शुभ परिणति धर्मध्यान रूप है, उसका आश्रय ही मोक्षमार्ग है, श्री भागचन्द कवि ने लिखा है—

''जावत शुद्धोपयोग पावत नाहि मनोग।
तावत ही करण योग कहि पुण्यकरणी॥''

जब तक शुद्धोपयोग व शुक्लध्यान की प्राप्ति न हो तब तक धर्मध्यान का अभ्यास आवश्यक है। वह धर्मध्यान मुक्तिमार्ग है। आज भी जो जीव रत्नत्रय से युक्त हो त्रिकरण की शुद्धिपूर्वक धर्मध्यान में स्थित होता है वह लौकांतिक, देव, सौधर्म इन्द्र आदि पदों को प्राप्त कर वहाँ से च्युत हुआ मुक्ति को प्राप्त करता है।

धर्मध्यान बीज है, शुक्लध्यान फूल है और मुक्ति/मोक्ष उसका फल है। मोक्ष प्राप्ति या कर्मों का क्षय बीज पर निर्भर है। जैसा बीज होगा वैसा फूल व फल लगेगा। अत: धर्मध्यान का अभ्यास मोक्षेच्छुक निकट भव्यात्मा की प्रथम सीढ़ी है।

कालादि लब्धि से आत्मा-परमात्मा

अदि-सोहण जोएणं, सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य।
कालाई-लद्धीए, अप्पा परमप्पओ हवदि॥१६३॥

अन्वयार्थ—(जह) जिस प्रकार (अदि-सोहण जोएणं) अति शोधन क्रिया से (सुद्धं हेमं हवेइ) स्वर्ण शुद्ध होता है (तह य) उसी प्रकार (कालाई-लद्धीए) कालादि लब्धि के द्वारा (अप्पा) आत्मा (परमप्पओ) परमात्मा (हवदि) होता है।

पयडी-सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मले वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं॥२ क.का.गो.॥

जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण में किट्टकालिमा का अनादि संबंध चला आ रहा है उसी प्रकार जीव-शरीर [कार्मण] का अनादि काल से संबंध है। इन दोनों का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है। स्वर्ण की अनादिकालीन किट्टकालिमा १६ तावरूप शोधन क्रिया द्वारा दूर होते ही स्वर्ण पाषाण शुद्ध स्वर्ण बन जाता है। उसी प्रकार अनादिकालीन द्रव्यकर्म-नोकर्म भावकर्म रूप किट्ट कालिमा जो जीव के साथ लगी हुई है वह बारह तप व चार आराधना रूप सोलह ताव लगने पर काल आदि लब्धि को प्राप्त कर आत्मा परमात्मा हो जाता है।

वह काल लब्धि तीन प्रकार से है—१. कर्मयुक्त कोई भी भव्यात्मा अर्द्ध-पुद्गल परावर्तन नाम के काल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण के योग्य होता है। इससे अधिक काल के शेष रहने पर नहीं होता, संसार स्थिति संबंधी यह एक काल लब्धि है।

२. दूसरी काललब्धि का संबंध कर्मस्थिति से है। उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर या जघन्य स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता। जब बँधने वाले कर्मों की स्थिति अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागर पड़ती है, और विशुद्ध परिणामों के वश से सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यातहजार सागर कम अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागर प्राप्त होती है तब [अर्थात् प्रायोग्यलब्धि के होने पर] यह जीव प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है।

तीसरी काललब्धि भव की अपेक्षा है—जो भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्वविशुद्धि है, वह प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है [स.सि.२/३/१०]

चदुगदि मिच्छो सण्णी, पुण्णो गब्भज विसुद्ध सागारो।
पढमुवसमं स गिण्हदि पंचमवर लद्धि चरिमह्मि ॥२॥ल.सा.॥

भुक्ति-मुक्ति का सुख

कामदुहिं कप्पतरु चिंता-रयणं रसायणं परमं।
लद्धो भुंजइ सोक्खं जहट्ठियं जाण तह सम्मं ॥१६४॥

अन्वयार्थ—[जह] जैसे [भाग्यवान् पुरुष] (कामदुहिं) कामधेनु (कप्पतरुं) कल्पवृक्ष (चिंता-रयण) चिन्तामणि रत्न (रसायणं) रसायन (लद्धो) प्राप्त करके (परमं सोक्ख भुंजइ) संसार के उत्कृष्ट सुखों को भोगता है (तह) वैसे ही (सम्मं) सम्यग्दृष्टि/सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने वाला जीव (जहट्ठियं) यथा स्थित क्रमशः उत्तम सुखों को प्राप्त करता है (जाण) ऐसा जानो।

अर्थ—जिस प्रकार कोई भाग्यवान् पुरुष कामधेनु-एक प्रकार की

गाय, जो समस्त इच्छित पदार्थों को देती है, कल्पवृक्ष—एक प्रकार का वृक्ष जो याचना करने पर इच्छित पदार्थों को प्रदान करता है, चिन्तामणि रत्न–एक प्रकार का रत्न जो चिंतित पदार्थ को तत्काल देता है, और रसायन—स्वर्ण आदि बनाने में सहायक पदार्थ को प्राप्त कर संसार के उत्तम सुखों को प्राप्त करता है। उसी प्रकार सम्यक्त्वरूपी रत्न को प्राप्त करने वाला जीव क्रमशः भुक्ति और मुक्ति के उत्तमोत्तम सुखों को भोगता है ऐसा जानना चाहिये।

ग्रन्थ का प्रयोजन

सम्म णाणं वेरग्ग-तवो भावं णिरीह-वित्ति–चारित्तं।
गुण-सील-सहाव तह उप्पज्जइ रयणसार-मिणं।।१६५।।

अन्वयार्थ—(इणं रयणसारं) यह रयणसार ग्रंथ (सम्म-णाणं-वेरग्ग-तवोभावं) सम्यग्दर्शन, ज्ञान, वैराग्य, तपोभाव (णिरीह-वित्ति) निरीहवृत्ति (चारित्तं) चारित्र (तह) तथा (गुणसील-सहावं) गुण-शील और आत्मस्वभाव को (उप्पज्जइ) उत्पन्न करता है।

अर्थ—यह रयणसार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, वैराग्य, तपोभाव, निरीह, वृत्ति, चारित्र तथा गुण-शील और आत्म स्वभाव को उत्पन्न करता है।

यह रयणसार ग्रन्थ सम्यग्दर्शन रत्न की प्राप्ति का एक अमूल्य खजाना है। ज्ञान व वैराग्य की उत्पत्ति के लिए मणिमय दीप है। तपोभाव की उत्पत्ति में एक प्रेरक निमित्त है। तथा निरीहवृत्ति, चारित्र-गुण-शील और आत्म स्वभाव की उत्पत्ति में अमर कल्पवृक्ष व चिन्तामणि रत्न है। भव्यात्माओं को रत्नत्रय निधि की प्राप्त्यर्थ इस लघु-काय सारगर्भित ग्रंथ का स्वाध्याय बार-बार करना चाहिये। इसका मनन-चिंतन व इसकी भावना पुनः-पुनः कर अध्यात्म की गंगा में डुबकी लगाकर आत्म स्वरूप की प्राप्ति में प्रयत्नशील होना चाहिये।

ग्रंथ की अवमानना से अलाभ

गंथ-मिणं जिणदिट्ठं, ण हु मण्णइ ण हु सुणेइ ण हु पढइ।
ण हु चिंतइ ण हु भावइ, सो चेव हवेइ कुदिट्ठी।।१६६।।

मार्गदर्शक :-

अन्वयार्थ—(जिणदिट्ठं) जिनेन्द्र कथित (इणं गंथं) इस रयणसार ग्रंथ को जो (ण हु मण्णइ) न तो मानता है (ण हु सुणेइ) न सुनता है (ण हु पढइ) न पढ़ता है (ण हु चिंतइ) न चिंतन करता है (ण हु भावइ) न भावना करता है (सो चेव) वह मानव/जीव (कुदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (हवेइ) होता है।

अर्थ—जिनेन्द्र देव कथित इस रयणसार ग्रंथ को जो न तो शब्दों से मानता है, न हृदय से सुनता है, न भावों से पढ़ता है, न बुद्धि से चिंतन करता है, न मन में भावना करता है वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है।

ग्रन्थ के सम्मान से लाभ

इदि सज्जण पुज्जं रयणसार गंथं णिरालसो णिच्चं।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं ठाणं ।।१६७।।

अन्वयार्थ—(इदि) इस प्रकार (सज्जण पुज्जं) सज्जनों के द्वारा पूज्य (रयणसार गंथं) इस रयणसार ग्रंथ को (णिच्चं) सदा (णिरालसो) आलस्य रहित होकर (पढइ) पढ़ता है (सुणइ) सुनता है (भावइ) भावना करता है (सो) वह (सासयं ठाणं) शाश्वत स्थान मोक्ष पद को (पावइ) पाता है।

अर्थ—जो भव्यात्मा इस प्रकार सज्जनों के द्वारा पूज्य इस "रयणसार" ग्रन्थ को जो सदा आलस्यरहित होकर भावों से पढ़ता है, हृदय से सुनता है, मन से भावना करता है वह शाश्वत स्थान मुक्ति पद को प्राप्त करता है।

इदि रयणसार गंथो समत्तो

गाथानुक्रमणिका

अ

अज्जवसप्पिणि भरहे ५४

अज्जवसप्पिणि भरहे ५५

अज्जवसप्पिणि भरहे ५६

अज्झयणमेव झाणं ९०

अणयाराणं वेज्जा २५

अण्णादीणो विसयविरत्तादो ७०

अप्पाणं पि ण पेच्छदि ८४

अवियप्पो णिद्दंदो १६

अविरद देसमहव्वदं ११४

असुहादो णिरयाऊ ५६

आ

आरंभे धणधण्णे १०१

इ

इच्छिद फलं ण लब्भदि ३४

इदि सज्जण पुज्जं १६७

इंदियविसयसुहादिसु १२९

इहणियसुवित्तवीयं १८

उ

उग्गो तिव्वो दुट्ठो ४३

उदरग्गिय समणमक्ख १०८

उवसम्मइ सम्मत्तं १४९

उवसमणिरीह झाणुं ११५

उवसम तव भावजुदो ६७

उहयगुणवसण भयमल ८

ए

एक्क खणं ण वि चिंतदि ५०

क

कम्मं ण खवेदि जो पर ८३

कम्माद विहाव सहाव १२३

कामदुहिं कप्पतरुं १६४

कायकिलेसुववासं ८२

कालमणंत जीवो १५३

किं जाणिदूण सयलं १२०

किंपायफलं पक्कं १२७

किं बहुणा वयणेणदु १५५

किं बहुणा हो तजि १३६

किं बहुणा हो देविंदा १४७

कुतव कुलिंगि कुणाणी ४७

कुसलस्स तवो णिवुणस्स १५२

कोहेण य कलहेण य ११२

ख

खयकुट्ठभूल सूल ३६

खाई पूया लाहं १२२

खुद्दो रुद्दो रुट्ठो ४४

खेत्त विसेसे काले १७

ग

गंथमिणं जिणदिट्ठं १६६

गयहत्थपादणासिय ३५

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गुणवय तव सय पडिमा १५०
गुरुभत्तिविहीणाणं ७८

च

चउगइ संसार गमण १३७
चम्मट्ठिमंसलवलुद्दो १०६

ज

जस्सकित्ति पुण्णलाहे २७
जं जाइजरामरणं १४६
जं जं अक्खाण सुहं १३०
जंतं मंतं तंतं २८
जाव ण जाणइ अप्पा ८५
जिण पूया मुणिदाणं १३
जिणलिंग हरो जोई १४३
जिण्णुद्धार पदिट्ठा ३२
जे पावारंभरदा १०४
जेसिं अमेज्झमज्झे १३१
जोइस वेज्जा मंतो १०३
जो मुणि भुत्तिवसेसं २२

ण

णमिऊंण वड्ढमाणं १
णरह तिरियाइ दुगइ ३७
ण वि जाणइ कज्जमकज्जं ४०
ण वि जाणइ जोग्गमजोग्गं ४१
ण वि जाणइ सिद्धसरूवं ११६
ण सहंति इदरदप्पं १०५
ण हि दाणं ण हि पूया ३९
ण हु दंडइ कोहादिं ६६
णाणब्भास विहीणो ८८
णाणी खवेइ कम्मं ६८
णाणेण झाणसिद्धि १५०
णिक्खेवणय पमाणं १५५
णिच्छय ववहार सरूवं ११९
णिय अप्पणाण झाण १२६
णियतच्चुवलद्धि ८६
णियसुद्धप्पणुरत्तो ६
णिंदावं चण दूरो ९५

त

तच्च वियारणसीलो ९३
तणु कुट्ठी कुलभंगं ४८
तिव्वं कायकिलेसं ९७

द

दव्वगुणपज्जयेहि १३९
दव्वत्थिकाय छप्पण ६०
दंडत्तय सल्लत्तय ९९
दंसणसुद्धो धम्मज्झाणरत्तो ११७
दाण ण धम्म ण चाग ण १२
दाणु पूया मुक्खं ११
दाणं पूयासीलं १०
दाणीणं दारिद्दं २९
दाणं भोयणमेत्तं १५
दिण्णइ सुपत्तदाणं १६

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी म

दिव्वुत्तरणसरिच्छं १९३

देवगुरुधम्मगुण ४९

देवगुरुसमयभत्ता ९

देहकलत्तं पुत्तं १२८

देहाइसु अणुरत्ता १००

ध

धणधण्णाहसमिद्धे ३०

धम्मज्झाणब्भासं १६३

धरियउ बाहिरलिंगं ६४

प

पत्त विणा दाणं ण ३१

पदि भत्ति विहीण सदी ७७

पवयणसारब्भासं १६२

पावारंभणिवित्ती ९१

पिच्छे संथरणे इच्छासु १५८

पुत्तकलत्तविदूरो ३३

पुव्वं जिणेहिं भणियं २

पुव्वं जो पंचिंदिय ७६

पुव्वट्ठिद खवइ कम्मं ५२

पुव्वं सेवइ मिच्छा ६९

पूय फलेण तिलोक्के १४

पूयसूयरसणाणं १३२

ब

बहिरब्भंतर गंथ १४५

बहिरंतरप्पभेदं १४०

बहुदुक्खभायणं ११०

भ

भयवसण मलविवज्जिय ५

भुंजेइ जहालाहं १०७

भुत्तो अयोगुलोसइयो १४८

भू महिला कणयाइ ७५

म

मक्खी सिलिम्मि पडियो ८८

मदमूढमणायदणं ७

मइसुयणाणबलेण दु ३

मल-मुत्त-घडत्व चिरं १३४

माद पिद पुत्त मित्तं १९

मिच्छंधयाररहियं १६१

मिच्छामइमदमोहा ५१

मिस्सो त्ति बाहिरप्पा १४१

मिहिरो महंधयार १६०

मूढत्तय सल्लत्तय १४२

मूलुत्तरुत्तरुत्तर १२४

मोक्खणिमित्तं दुक्खं ६५

मोक्खगइगमणकारण १३८

मोह ण छिज्जइ अप्पा ६३

र

रज्जं पहाणहीण ७९

रयणत्तय करणत्तय १४३

रयणत्तयमेव गणं १५९

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

रयणत्तयस्सरूवे ६१
रसरुहिरमंसमेदं १०९

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
रायाइ मलजुदाणं ९७

ल

लोइयजणसंगाओ ४२

व

वत्थुसमग्गो णाणी ७४
वत्थु समग्गो मूढो ७२
वयगुणसील परीसह १२१
वसदि पडिमोवयरणे १५७
वाणरगद्दहसाणगय ४५
विकहाइ विप्पमुक्को ९४
विकहाइसु रुद्दट्ट ५९
विणओ भत्तिविहीणो ७१
विसयविरत्तो मुञ्चइ १२५

स

संघ विरोह कुसीला १०२
संजमतवंझाणज्झयण १११
सत्तंगरज्जणवणिहि २०
सम्मणाणं वेरग्गतवो १६५
सप्पुरिसाणं णाणं २६
सम्मत्तगुणाइसुगइ ६२
सम्मत्तरयणसारं ४
सम्मद्दंसण सुद्धं १५४
सम्म विणा सण्णाणं ४६
सम्म विसोहि तवगुण ३८
सम्माण विणारुइ ८०
सम्माइ गुणविसेसं ११८
सम्मादिट्ठीकालं ५३
सम्मादिट्ठी णाणी १३५
साल विहीणो राओ ८७
सिविणे वि ण भुंजइ १३३
सीदुण्ह वाय पिउलं २३
सुकुल सुरूव सुलक्खण २१
सुयणाणब्भासं जो ९२
सुहडो सूरत्त विणा ७२

ह

हियमियमण्णं पाणं २४
हिंसादिसु कोहादिसु ५८
हीणादाण वियारं ८१